August 2024

# *Bulletin of Sri Aurobindo International Centre of Education*

# श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र पत्रिका

**(हिन्दी-विभाग)**

**अगस्त २०२४**

**श्रीअरविन्द आश्रम**

**पॉण्डिचेरी, भारत**

# बुलेटिन अगस्त २०२४

## विषय-सूची


| | | |
|---|---|---|
| समता की क्रिया | श्रीअरविन्द | ३ |
| परिचन्द के साथ श्रीमाँ का पत्र-व्यवहार | श्रीमाँ | ११ |
| पूर्ण योग का सिद्धान्त | श्रीअरविन्द | २० |
| अन्तर में भगवान् | 'श्रीमातृवाणी' से | २१ |
| साधना का केन्द्रीय रहस्य | श्रीअरविन्द | २२ |
| ७ दिसम्बर १९५५ के वार्तालाप का अंश | 'श्रीमातृवाणी' से | २३ |
| शारीरिक शिक्षा तथा रूपान्तर | श्रीअरविन्द/श्रीमाँ | २६ |
| श्रीअरविन्द के उत्तर (९३) | | २९ |

# *'योग-समन्वय'* में समता

श्रीअरविन्द ने कहा है कि समता उनके सर्वांगीण योग की नींवों में से एक नींव है। *योग-समन्वय* के चार अध्यायों में उन्होंने उसकी महत्ता और अर्थ का खुलासा किया है। इस शृंखला में उनके इन्हीं अध्यायों को दिया जायेगा। बुलेटिन के इस अंक में हम "समता की क्रिया', *योग-समन्वय* के भाग-४ का अध्याय १३ दे रहे हैं।

## समता की क्रिया

पिछले अध्याय में हमने समता के जो भेद किये हैं उनसे यह पर्याप्त स्पष्ट हो गया होगा कि समता की अवस्था का क्या अभिप्राय है। वह केवल निश्चल शान्ति एवं उदासीनता नहीं है, न वह अनुभव से विरत होने का ही नाम है, बल्कि उसका मतलब है मन और प्राण की वर्तमान प्रतिक्रियाओं से ऊपर उठ जाना। वह जीवन के प्रति प्रतिक्रिया करने का अथवा सच पूछो तो उसका आलिंगन करके उसे अन्तरात्मा और आत्मा का एक पूर्ण सक्रिय रूप बनने के लिए बाध्य करने का आध्यात्मिक मार्ग है। वह जीवन के ऊपर आत्मा के प्रभुत्व का प्रथम रहस्य है। जब हम उसे पूर्ण रूप से प्राप्त कर लेते हैं तो हम दिव्य आध्यात्मिक प्रकृति की ठेठ भूमि में प्रवेश पाते हैं। शरीर में स्थित मनोमय पुरुष प्राण को बलात् नियन्त्रित करने तथा अपने अधिकार में लाने का यत्न करता है, किन्तु पग-पग पर उसी के द्वारा नियन्त्रित होता है, क्योंकि वह प्राणमय सत्ता की कामनात्मक प्रतिक्रियाओं के अधीन हो जाता है। सम रहना, अर्थात् कामना के किसी भी दबाव के द्वारा अभिभूत न होना, वास्तविक प्रभुत्व की पहली शर्त है, आत्म-शासन इसका आधार है। परन्तु निरी मानसिक समता, वह चाहे कितनी ही महान् क्यों न हो, निष्क्रियता की प्रवृत्ति के द्वारा जकड़ी रहती है। उसे कामना से अपने-आपको स्थिर रूप से सुरक्षित करने के लिए संकल्प और कर्म के क्षेत्र में अपने-आपको सीमित करना होता है। केवल आत्मा ही एक ऐसी सत्ता है जो संकल्प की उदात्त अक्षुब्ध तीव्रताओं को तथा असीम धैर्य को धारण कर सकती है, वही मन्द एवं सुविचारित या तीव्र एवं उग्र कर्म में समान रूप से यथोचित व्यवहार करती है, सुरक्षित रूप से मर्यादित, सीमित या विशाल एवं बृहत् कर्म में समानतया निरापद रहती है। वह संसार के किसी संकीर्णतम क्षेत्र में छोटे-से-छोटे कार्य को स्वीकार कर सकती है, पर वह अव्यवस्था के भँवर पर भी बुद्धिपूर्वक और सर्जन-शक्ति के साथ कार्य कर सकती है; और ये सब चीज़ें वह इस कारण कर सकती है कि वह दोनों प्रकार के कार्यों को अनासक्ति के साथ किन्तु फिर भी घनिष्ठ भाव से स्वीकार करके उनके अन्दर अनन्त शान्ति, ज्ञान, संकल्प और शक्ति को धारण किये रहती है। यह अनासक्ति उसमें

इस कारण होती है कि वह जिन घटनाओं, रूपों, विचारों और कार्यों को अपने क्षेत्र में समाविष्ट करती है उन सबसे ऊपर होती है; और, सब कार्यों को घनिष्ठ रूप से स्वीकार करने की वृत्ति उसमें इस कारण होती है कि इस सबके होते हुए भी वह सब वस्तुओं के साथ एकमय होती है। यदि हमारे अन्दर यह मुक्त एकत्व, **एकत्वम् अनुपश्यतः**, नहीं है तो हमारे अन्दर आत्मा की पूर्ण समता नहीं आयी है।

साधक का पहला कर्तव्य यह देखना है कि उसमें पूर्ण समता है या नहीं, इस दिशा में वह कहाँ तक आगे बढ़ा है अथवा कहाँ त्रुटि रह गयी है, साथ ही उसका कर्तव्य यह भी है कि वह अपनी प्रकृति पर अपनी संकल्प-शक्ति का स्थिरतापूर्वक प्रयोग करे या फिर त्रुटि और उसके कारणों को दूर करने के लिए 'पुरुष' की संकल्प-शक्ति का आवाहन करे। चार चीज़ें उसमें अवश्य होनी चाहियें; पहली, **समता** अपने अत्यन्त ठोस एवं व्यावहारिक अर्थ में, अर्थात् मानसिक, प्राणिक और शारीरिक अभिरुचियों से मुक्ति, उसके अन्दर और चारों ओर परमेश्वर की जो भी क्रियाएँ हो रही हैं उन सबको सम रूप से स्वीकार करना; दूसरी चीज़ है, सुस्थिर **शान्ति** और समस्त क्षोभ एवं उद्वेग का अभाव; तीसरी, प्राकृत सत्ता का भावात्मक आन्तर आध्यात्मिक सुख और आध्यात्मिक आराम, **सुखम्,** जिसे कोई भी चीज़ कम न करे सके; चौथी, जीवन और जगत् का आलिंगन करने वाली आत्मा का **शुभ्र आनन्द** और **हास्य**। सम होने का अर्थ है, अनन्त और विश्वमय होना, अपने-आपको सीमित न करना, मन और प्राण के इस या उस रूप के साथ तथा उनकी अपूर्ण अभिरुचियों एवं कामनाओं के साथ अपने-आपको न बाँधना। पर मनुष्य अपनी वर्तमान सामान्य प्रकृति में अपनी मानसिक और प्राणिक रचनाओं के अनुसार ही जीवन यापन करता है; अपनी आत्मा की स्वतन्त्रता में नहीं, इसलिए उन रचनाओं के प्रति तथा उनके अन्तर्भूत कामनाओं और अभिरुचियों के प्रति आसक्ति भी उसकी सामान्य अवस्था है। उन्हें स्वीकार करना आरम्भ में अनिवार्य होता है, उनके परे जाना अत्यन्त ही कठिन है और जब तक हम मन को अपने कार्य के प्रधान साधन के रूप में प्रयुक्त करने के लिए बाध्य होते हैं तब तक शायद उनके परे जाना पूर्णतया सम्भव भी नहीं होता। अतएव, पहला आवश्यक कार्य यह है कि हम कम-से-कम उनके डंक को निकाल डालें और जब वे डटी रहें तब भी उनकी अत्यधिक हठधर्मिता तथा वर्तमान अहम्मन्यता और हमारी प्रकृति पर उनकी अधिक उग्र माँग से उन्हें वञ्चित कर दें।

यह कार्य हमने सम्पन्न कर लिया है या नहीं इसकी कसौटी यह है कि क्या हमारे मन और हमारी आत्मा में अविचलित शान्ति उपस्थित रहती है। साधक को मन के पीछे स्थित होकर बल्कि, जितनी जल्दी बन पड़े उतनी जल्दी, मन के ऊपर स्थित होकर साक्षी और संकल्पशील पुरुष के रूप में प्रकृति का निरीक्षण करना होगा और अपने मन में उत्पन्न होने वाली अशान्ति, चिन्ता, शोक, विद्रोह और विक्षोभ के ज़रा से भी लक्षणों या प्रसंगों को दूर हटाना होगा। यदि ये चीज़ें प्रकट हों तो उसे इनके मूल कारण को, इनके द्वारा सूचित त्रुटि को, अहंकारपूर्ण माँग के दोष को, तथा उस प्राणिक कामना, भावावेश या विचार को, जिससे

ये उद्‌भूत होती हैं, तुरन्त ढूँढ़ निकालना होगा और अपनी संकल्प-शक्ति एवं अध्यात्मभावित बुद्धि के द्वारा तथा अपनी सत्ता के स्वामी के साथ अपनी आत्मिक एकता के द्वारा इस मूल दोष आदि को क्षीण एवं निस्तेज करना होगा। किसी भी कारण से इन चीज़ों के लिए कोई भी बहाना उसे स्वीकार नहीं करना होगा, वह चाहे कितना ही स्वाभाविक तथा देखने में न्याययुक्त या सत्याभासी क्यों न हो; इसी प्रकार उसे इनका समर्थन करने वाले किसी आन्तरिक या बाह्य कारण को भी स्वीकार नहीं करना होगा। उसकी सत्ता का जो भाग क्षुब्ध होता है और शोर मचाता है वह यदि प्राण हो तो उसे उस क्षुब्ध प्राण से अपने-आपको पृथक् कर लेना होगा, अपनी उच्चतर प्रकृति को बुद्धि में स्थित रखना होगा और बुद्धि के द्वारा अपनी कामनामय आत्मा की माँग को नियन्त्रित और निराकृत करना होगा; और कोलाहल एवं उपद्रव करने वाला भाग यदि भावप्रधान हृदय हो तो उसके साथ भी ऐसा ही बर्ताव करना होगा। इसके विपरीत, यदि दोष स्वयं संकल्प-शक्ति और बुद्धि का हो तो इस उपद्रव पर क़ाबू पाना अधिक कठिन होता है, क्योंकि तब उसका मुख्य सहायक एवं यन्त्र दिव्य संकल्प-शक्ति के विरुद्ध विद्रोह करने वालों का संगी बन जाता है और निम्नतर अंगों के पुराने पाप इस अनुमति से लाभ उठा कर फिर से अपना सिर ऊपर उठा लेते हैं। अतएव, हमें एकमात्र प्रधान विचार पर, अर्थात् अपनी सत्ता के स्वामी, अपने और विश्व के अन्दर अवस्थित भगवान्, परम आत्मा एवं विराट् 'पुरुष' के प्रति आत्म-समर्पण पर, सतत और आग्रहपूर्वक बल देना होगा। बुद्धि को सदा इस प्रधान विचार पर एकाग्र रह कर अपने सब हीनतर आग्रहों और अभिरुचियों को निरुत्साहित करना होगा और सम्पूर्ण सत्ता को यह सिखाना होगा कि चाहे अहंभाव बुद्धि, व्यक्तिगत संकल्प-शक्ति और हृदय के द्वारा अपनी माँग पेश करे या प्राणगत कामना-पुरुष के द्वारा, पर उसे किसी भी प्रकार का वास्तविक अधिकार नहीं है और समस्त शोक, विद्रोह, अधीरता और अशान्ति सत्ता के 'स्वामी' के विरुद्ध एक प्रकार की ज़ोर-ज़बरदस्ती है।

इस पूर्ण आत्म-समर्पण को ही साधक को अपना मुख्य आधार बनाना चाहिये क्योंकि पूर्ण निश्चलता के तथा कर्ममात्र के प्रति पूर्ण उदासीनता के मार्ग के सिवाय—जिसका कि हमें त्याग करना होगा—आत्म-समर्पण ही एक ऐसा मार्ग है जिसके द्वारा पूर्ण स्थिरता और शान्ति प्राप्त हो सकती हैं। अशान्ति यदि निरन्तर बनी रहे और अपने-आपको पवित्र करने एवं पूर्ण बनाने की इस क्रिया में यदि लम्बा समय लगे तो उसके कारण भी उसे निरुत्साहित और अधीर नहीं होना चाहिये। अशान्ति इसलिए लौट आती है कि उसे प्रत्युत्तर देने वाली कोई चीज़ हमारी प्रकृति में अभी तक विद्यमान होती है, और वह बारम्बार लौट कर यह प्रकट करने में सहायक होती है कि अभी हमारे अन्दर त्रुटि विद्यमान है, साथ ही वह साधक को सावधान करने में तथा उस त्रुटि से मुक्त होने के लिए संकल्प-शक्ति की एक अधिक आलोकित और संगत क्रिया को साधित करने में भी सहायता पहुँचाती है। जब अशान्ति इतनी प्रबल हो कि उसे दूर किया ही न जा सके तो उसके तूफ़ान को गुज़र जाने देना चाहिये और आध्यात्मीकृत बुद्धि की महत्तर जागरूकता तथा दृढ़ता के द्वारा उसके पुनरार्वतन को निरुत्साहित करना चाहिये। इस प्रकार दृढ़

रहने से यह अनुभव होगा कि इन चीज़ों का बल उत्तरोत्तर कम होता जाता है, ये अधिकाधिक बाह्य बनती जाती हैं और लौटने पर उत्तरोत्तर कम समय तक ही टिक पाती हैं, जिससे कि अन्त में शान्ति हमारी सत्ता का विधान बन जाती है। यह नियम-पद्धति तब तक चलती रहती है जब तक मनोमय बुद्धि हमारे मुख्य करण का काम करती है; पर जब अतिमानसिक ज्योति मन और हृदय पर अधिकार कर लेती है, तब कोई अशान्ति, शोक, या क्षोभ उत्पन्न नहीं हो सकता; क्योंकि वह अपने संग आलोकित शक्ति से युक्त आध्यात्मिक प्रकृति को लाती है जिसमें इन चीज़ों का कोई स्थान ही नहीं हो सकता। वहाँ तो एकमात्र वही स्पन्दन और भावावेश होते हैं जो दिव्य एकता की **आनन्दमय** प्रकृति से सम्बन्ध रखते हैं।

सम्पूर्ण सत्ता में जो शान्ति स्थापित हो वह सभी परिस्थितियों में एक-सी बनी रहनी चाहिये, अर्थात् स्वास्थ्य और रोग में, सुख और दुःख में, यहाँ तक कि तीव्र-से-तीव्र शारीरिक वेदना में, सौभाग्य और दुर्भाग्य में, वह चाहे हमारा हो या उनका जिनसे हम प्रेम करते हैं, सफलता और विफलता में, मान और अपमान में, स्तुति और निन्दा में, हमारे प्रति किये गये न्याय और अन्याय में, ऐसी प्रत्येक वस्तु में जो साधारणतः मन को प्रभावित करती है, सत्ता की शान्ति एक समान बनी रहनी चाहिये। यदि हम सर्वत्र एकता का दर्शन करें, यदि हम यह अनुभव करें कि सब कुछ भगवान् की इच्छा-शक्ति से ही घटित होता है, सबमें परमेश्वर को देखें, अर्थात् अपने शत्रुओं में या यूँ कहें कि जीवन की क्रीड़ा में जो हमारे विरोधी हैं उनमें तथा अपने मित्रों में, हमारा विरोध और प्रतिरोध करने वाली शक्तियों में, तथा हमारा पक्ष लेने और सहायता करने वाली शक्तियों में, सभी बलों तथा सभी घटनाओं में भगवान् का साक्षात्कार करें और इसके साथ ही यदि हम यह भी अनुभव कर सकें कि कोई भी वस्तु हमारी आत्मा से विभक्त या पृथक् नहीं है, समस्त विश्व हमारी विराट् सत्ता में हमारे साथ एकीभूत है—तो समता एवं शान्ति की इस वृत्ति को धारण करना हमारे हृदय और मन के लिए कहीं अधिक सुगम हो जायेगा। परन्तु इस विराट् साक्षात्कार को प्राप्त कर सकने या इसमें दृढ़तया स्थित हो सकने से पहले भी हमें अपने अधिकारगत सभी उपायों से इस ग्रहणशील और सक्रिय समता एवं शान्ति पर आग्रह करना होगा। इसका थोड़ा-सा भी अंश, **स्वल्पम् अपि अस्य धर्मस्य**, पूर्णता की ओर एक महान् पग होता है; इसमें आरम्भिक दृढ़ता मुक्ति की सिद्धि की पहली सीढ़ी होती है; इसकी सम्पूर्णता सिद्धि के अन्य सभी अंगों में द्रुत प्रगति के लिए पूर्ण आश्वासन का काम करती है। कारण, इसके बिना हमें ठोस आधार नहीं प्राप्त हो सकता; और इसका सुनिश्चित अभाव होने पर हम कामना, अहं, द्वन्द्व और अज्ञान से युक्त निम्नतर अवस्था में पुनः-पुनः पतित होते रहेंगे।

यह शान्ति जब एक बार प्राप्त हो जाये तो समझो कि प्राण और मन की पसन्दगी शान्ति भंग करने की सामर्थ्य को खो चुकी है; उसके बाद से वह मन का एक रूढ़ अभ्यासमात्र रह जाती है। प्राणिक स्वीकृति या निषेध, अर्थात् उस घटना की अपेक्षा इसका अधिक स्वागत करने के लिए प्राण की कहीं अधिक तत्परता, मानसिक स्वीकृति या निषेध, अर्थात् उस दूसरे कम अनुकूल विचार या सत्य की अपेक्षा इस अनुकूलता को अधिक पसन्द करना, उस अन्य

परिणाम की अपेक्षा कहीं अधिक इस परिणाम पर अपने संकल्प को एकाग्र करना—ये सब एक रूढ़ यान्त्रिक क्रिया का रूप धारण कर लेते हैं। हमारी सत्ता का स्वामी शक्ति को जिस दिशा में मोड़ना चाहता है या इस समय जिस दिशा में प्रवृत्त कर रहा है उसका संकेत करने के लिए वह यान्त्रिक क्रिया अभी आवश्यक होती है। किन्तु प्राण और मन की पसन्दगी में प्रबल अहंकारमयी संकल्प-शक्ति, असहिष्णु कामना और आग्रहपूर्ण रुचिवाला जो अशान्तिजनक तत्त्व है वह नष्ट हो जाता है। अशान्ति पैदा करना वाली ये बाह्य वस्तुएँ क्षीण रूप में कुछ समय तक टिकी रह सकती हैं, पर जैसे-जैसे समता की शान्ति बढ़ती जाती है तथा गहरी होकर अधिक मूलभूत और घन रूप ग्रहण करती जाती है, वैसे-वैसे ये लुप्त होती जाती हैं और मानसिक एवं प्राणिक तत्त्व को रञ्जित करना छोड़ती जाती हैं या फिर ये अत्यन्त बाह्य भौतिक मन की सतह पर बाह्य स्पर्शों के रूप में ही प्रकट होती हैं, अन्दर नहीं पैठ सकतीं और, अन्त में, यह पुनरावर्तन, अर्थात् मन के बाह्य द्वारों पर पुनः-पुनः प्रकट होना भी समाप्त हो जाता है। तब यह अनुभव एक सजीव सत्य के रूप में प्राप्त हो सकता है कि हमारे अन्दर जो कुछ भी होता है उस सबको सत्ता का स्वामी ही सम्पन्न और सञ्चालित करता है, **यथा प्रयुक्तोऽस्मि तथा करोमि,** यह अनुभव पहले हमारे अन्दर केवल एक प्रबल धारणा एवं श्रद्धा के रूप में ही विद्यमान था; हाँ, अपनी वैयक्तिक प्रकृति की घटनाओं के पीछे हमें कभी-कभी, गौण रूप से, दिव्य क्रिया की झाँकियाँ भी मिल जाती थीं। किन्तु अब ऐसा दिखायी देता है कि हमारी प्रत्येक क्रिया पुरुष के संकेतों को, हमारी अन्तःस्थ दिव्य **शक्ति** के द्वारा दिया गया एक रूप है; निःसन्देह यह रूप अभी भी व्यक्तिभावापन्न होता है, अभी भी निम्नतर मानसिक आकार की क्षुद्रता को लिये रहता है, पर मूलतः अहंकारपूर्ण नहीं होता, यह रूप अपूर्ण अवश्य होता है पर स्पष्टतः विकृत नहीं। इसके बाद हमें इस अवस्था के भी परे जाना होगा। कारण, पूर्ण कर्म एवं अनुभव का निर्धारण किसी प्रकार की मानसिक या प्राणिक अभिरुचि को नहीं करना होगा, वह तो सत्योद्भासक और अन्तःप्रेरक आध्यात्मिक संकल्प-शक्ति को करना होगा। यह संकल्प-शक्ति स्वयं भागवत शक्ति ही होती है जो साक्षात् और वास्तविक रूप से कर्म और अनुभव का सञ्चालन करती है। जब मैं यह कहता हूँ कि वह मुझे जिस प्रकार प्रेरित करता है उसी प्रकार मैं कर्म करता हूँ तब भी मैं अपने कार्य में एक सीमाकारी वैयक्तिक तत्त्व और मानसिक प्रतिक्रिया को ले आता हूँ। पर (इससे परे की अवस्था में) प्रभु ही मुझे अपना यन्त्र बना कर मेरे द्वारा अपना कार्य करेंगे और इसके लिए मेरे अन्दर कोई ऐसी मानसिक या अन्य प्रकार की अभिरुचि नहीं होनी चाहिये जो उनके कार्य को सीमित करे, उसमें हस्तक्षेप करे तथा क्रिया की अपूर्णता को जन्म दे। मन को अतिमानसिक **सत्य** के साक्षात्कारों के लिए तथा उसके साक्षात्कार में प्रच्छन्न रूप से कार्य कर रही **संकल्प-शक्ति** के प्रत्यक्ष अनुभव के लिए एक प्रशान्त और ज्योतिर्मय वाहन बनना होगा। तब हमारा कर्म इस सर्वोच्च सत्स्वरूप प्रभु एवं सर्वोच्च **सत्य** का कर्म होगा, वह मन में पहुँच कर सीमित या मिथ्या रूप नहीं धारण कर लेगा। जो भी सीमा, पसन्दगी या सम्बन्ध उस कर्म पर आरोपित किया जायेगा उसे भगवान् ही

व्यक्ति के अन्दर किसी विशेष समय में अपने किसी उद्देश्य के लिए अपने ऊपर स्वयं आरोपित करेंगे; वह सीमा आदि अनिवार्य, चरम अथवा अटल नहीं होगी, मन के किये हुए अज्ञानयुक्त निर्धारण के समान नहीं होगी। बल्कि तब विचार और संकल्प ज्योतिर्मय अनन्त से उद्‌भूत होने वाली क्रियाओं का रूप धारण कर लेते हैं, वे एक ऐसी रचना बन जाते हैं जो अन्य रचनाओं को बहिष्कृत नहीं करती बल्कि उन्हें अपने साथ उनके सम्बन्ध की दृष्टि से उनके ठीक स्थान पर स्थापित कर देती है, यहाँ तक कि उन्हें अपने घेरे के अन्तर्गत कर लेती या रूपान्तरित कर देती है और दिव्य ज्ञान तथा कर्म के बृहत्तर रूपों या रचनाओं की ओर अग्रसर होती है।

समता के फलस्वरूप सर्वप्रथम जो स्थिरता प्राप्त होती है उसका स्वरूप होता है, शान्ति अर्थात् समस्त चञ्चलता, शोक और उद्वेग का अभाव। जैसे-जैसे समता अधिक घनीभूत होती जाती है, वैसे-वैसे वह भावात्मक सुख एवं आध्यात्मिक शान्ति के पूर्णतर तत्त्व को ग्रहण करती जाती है। यह शान्ति एवं सुख आत्मा का एक ऐसा हर्ष होता है जो उसे अपने ही अन्दर मिलता है और जो अपनी निरपेक्ष सत्ता के लिए किसी भी बाह्य वस्तु पर आश्रित नहीं होता, **निराश्रयः**; गीता में इसका वर्णन **अन्तःसुखोऽन्तरारामः**—इन शब्दों में किया गया है, यह निरतिशय आन्तरिक सुख होता है, **ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते**। कोई भी चीज़ इसमें व्याघात नहीं पहुँचा सकती, और आगे चल कर यह आत्मा के द्वारा बाह्य वस्तुओं के अवलोकन के क्षेत्र में भी अपने-आपको विस्तारित करता है, अर्थात् उन पर भी इस शान्त आध्यात्मिक हर्ष का नियम लागू करता है। कारण, इसका आधार होता है निश्चल शान्ति, यह सम, प्रशान्त और निरपेक्ष, **अहैतुक** हर्ष होता है। और जैसे-जैसे अतिमानसिक ज्योति बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे एक महत्तर आनन्द प्राप्त होता जाता है; हमारी आत्मा जो कुछ भी है तथा जो कुछ वह बनती, देखती और अनुभव करती है उस सबमें उसे जो प्रचुर हर्षातिरेक प्राप्त होता है उसके लिए यह महत्तर आनन्द आधार का काम करता है, साथ ही यह आनन्द भगवान् के कर्म को ज्ञानपूर्वक करने वाली और सभी लोकों में भगवान् का आनन्द ले रही भागवत शक्ति के अट्टहास्य का भी आधार है।

जब समता की क्रिया पूर्णता प्राप्त कर लेती है तो वह दिव्य आनन्दमय शक्ति के आधार पर पदार्थों के सभी मूल्यों का रूपान्तर कर देती है। बाह्य कर्म जैसा पहले था वैसा ही चलता रह सकता है अथवा बदल भी सकता है, उसका रूप वही होता है जिसके लिए परम आत्मा प्रेरित करती है तथा जो जगत् के लिए करने-योग्य कर्म को सम्पन्न करने के लिए आवश्यक होता है—किन्तु आन्तरिक कर्म सारे-का-सारा और ही ढंग का हो जाता है। ज्ञान, कर्म, उपभोग, सर्जन और रूपायण की अपनी विभिन्न सामर्थ्यों के साथ भागवत शक्ति जगत् के विभिन्न लक्ष्यों की ओर अपने-आपको प्रेरित करेगी, पर उसका मूल भाव और ही प्रकार का होगा; वे ऐसे लक्ष्य, फल तथा कार्य-पद्धतियाँ होंगे जिन्हें भगवान् अपने ऊर्ध्वस्थ प्रकाश से निर्धारित करते हैं, वे कोई ऐसी चीज़ नहीं होंगे जिसकी माँग अहं अपने पृथक् स्वार्थ के लिए करता है। मन, हृदय, प्राण-सत्ता और यहाँ तक कि शरीर भी, सत्ता के स्वामी के विधान से उन्हें जो कुछ भी

प्राप्त होगा उसी से सन्तुष्ट रहेंगे और उसी में सूक्ष्मतम किन्तु फिर भी पूर्णतम आध्यात्मीकृत तृप्ति और आनन्द प्राप्त करेंगे; पर ऊर्ध्वस्थित दिव्य ज्ञान एवं संकल्प अपने और भी परे के लक्ष्यों के लिए कार्य करते जायेंगे। यहाँ सफलता और असफलता दोनों के वर्तमान अर्थ लुप्त हो जाते हैं। यहाँ असफलता नाम की कोई चीज़ हो ही नहीं सकती, क्योंकि जो कुछ भी होता है वह लोकों के प्रभु का अभिमत होता है, वह अन्तिम लक्ष्य नहीं बल्कि उनके मार्ग का एक सोपान होता है, और यदि वह यन्त्रभूत सत्ता के सामने उपस्थित लक्ष्य का विरोध, पराभव, निषेध, यहाँ तक कि क्षण-भर के लिए पूर्ण निषेध प्रतीत होता हो तो वह केवल ऊपर से देखने में ही ऐसा लगता है और बाद में वह प्रभु के कार्य की मितव्ययतापूर्ण व्यवस्था में अपने ठीक स्थान पर स्थित दिखायी देगा—यहाँ तक कि एक पूर्णतर अतिमानसिक दिव्य दृष्टि उसके प्रयोजन को तथा अन्तिम परिणाम के साथ उसके सच्चे सम्बन्ध को तुरन्त या पहले से ही देख सकती है, यद्यपि वह अन्तिम परिणाम के इतना विपरीत और यहाँ तक कि शायद उसका निश्चित प्रतिषेध ही प्रतीत होता है। अथवा—जब प्रकाश न्यून होता है तब—यदि लक्ष्य को या कार्य की पद्धति तथा परिणाम के क्रमों को समझने के सम्बन्ध में भूल हुई हो तो असफलता उसे सुधारने के लिए आती है और इससे निरुत्साहित या संकल्प में विचलित हुए बिना इसे शान्तिपूर्वक स्वीकार कर लिया जाता है। अन्त में यह पता लगता है कि असफलता नाम की कोई चीज़ है ही नहीं और तब अन्तरात्मा सभी घटनाओं को भागवत संकल्प-शक्ति के सोपान और रूपायण समझती हुई उनमें एकसमान निष्क्रिय या सक्रिय आनन्द लेती है। सौभाग्य और दुर्भाग्य, रुचिकर और अरुचिकर अर्थात् **मंगल-अमंगल** और **प्रिय-अप्रिय** के सभी रूपों के सम्बन्ध में भी ऐसी ही वृत्ति विकसित हो जाती है।

घटनाओं की तरह व्यक्तियों के सम्बन्ध में भी समता हमारी दृष्टि और वृत्ति में पूर्ण परिवर्तन ले आती है। समत्वपूर्ण मन और आत्मा का पहला परिणाम यह होता है कि वे एक वृद्धिशील उदारता को तथा सब व्यक्तियों, विचारों, दृष्टिकोणों और कार्यों के प्रति आन्तरिक सहिष्णुता को उत्पन्न करते हैं, क्योंकि यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि भगवान् सब प्राणियों में विद्यमान हैं और प्रत्येक प्राणी अपने स्वभाव तथा उसकी वर्तमान अभिव्यक्तियों के अनुसार कार्य करता है। जब भावात्मक सम आनन्द प्राप्त होता है तो वह उदारता एवं सहिष्णुता गहरी होकर सहानुभूतिपूर्ण समझ का तथा अन्त में एक सम सार्वभौम प्रेम का रूप धारण कर लेती हैं। आध्यात्मिक संकल्प-शक्ति के द्वारा निर्धारित जीवन की आवश्यकता के अनुसार हमारी आन्तरिक मनोवृत्ति बाह्य जगत् के साथ जो नानाविध सम्बन्ध स्थापित करती है या जो विभिन्न रूप ग्रहण करती है उनमें उपर्युक्त उदारता, सहिष्णुता आदि कोई भी वृत्ति बाधा नहीं पहुँचा सकती, इसी प्रकार उसी संकल्प-शक्ति के द्वारा निर्धारित जीवन की आवश्यकता और जीवनोद्देश्य के लिए अमुक एक विचार, दृष्टि और कार्य के विरुद्ध अमुक दूसरे को सुदृढ़ प्रश्रय देने में, अथवा जो शक्तियाँ विधिविहित कार्य के मार्ग में रोड़ा अटकाने के लिए प्रेरित होती हैं उनके विरुद्ध प्रबल बाह्य या आन्तरिक प्रतिरोध, विरोध या प्रतिक्रिया करने में भी उक्त वृत्ति बाधक

नहीं हो सकती। इतना ही नहीं, बल्कि रुद्र-शक्ति वेगपूर्वक प्रकट होकर मानवीय या अन्य प्रकार की बाधा पर प्रबल रूप से क्रिया कर सकती है या उसे छिन्न-भिन्न कर सकती है, क्योंकि यह मानव-व्यक्ति तथा जागतिक उद्देश्य दोनों के लिए आवश्यक होता है। परन्तु इन अधिक ऊपरी रचनाओं के द्वारा समत्वपूर्ण अन्तरतम वृत्ति के सारतत्त्व में कोई परिवर्तन या कमी नहीं आती। भले ही ज्ञान, संकल्प, कर्म और प्रेम की शक्ति अपना कार्य करे और अपने कार्य के लिए अपेक्षित नानाविध रूप भी धारण करे किन्तु मूल भावना एवं मूलभूत आत्मा एक ही रहती हैं। और अन्त में सब कुछ भगवान् की सत्ता में तथा ज्योतिर्मय, आध्यात्मिक, एकमेव और विश्वव्यापक शक्ति में सभी व्यक्तियों, शक्तियों और वस्तुओं के साथ ज्योतिर्मय आध्यात्मिक एकत्व का रूप धारण कर लेता है। उस विश्वव्यापक एकमेव शक्ति में व्यक्ति का अपना कार्य सबके कार्य का अभेद्य अंग बन जाता है, उससे विभक्त एवं पृथक् नहीं होता, बल्कि प्रत्येक सम्बन्ध को पूर्णतया अपने विराट् एकत्व के जटिल रूपों से युक्त सर्वभूतस्थ भगवान् के साथ सम्बन्ध अनुभव करता है। यह एक ऐसी पूर्णता है जिसे भेदकारक मानसिक बुद्धि की भाषा में शायद ही वर्णित किया जा सकता है क्योंकि यह उसके सभी विरोधों का उपयोग करती है किन्तु फिर भी उन्हें अतिक्रम कर जाती है; इसी प्रकार हमारे सीमित मनोविज्ञान के शब्दों में भी इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। यह तो चेतना के एक अन्य ही प्रदेश से एवं हमारी सत्ता की एक अन्य ही भूमिका से सम्बन्ध रखती है।

CWSA खण्ड २४, पृ. ७२१-२८　　**श्रीअरविन्द**

# परिचन्द के साथ श्रीमाँ का पत्र-व्यवहार

३० अक्तूबर १९०४ में जन्मे, परिचन्द कोठारी ने तीस वर्ष की अवस्था में ११ नवम्बर १९३४ को आश्रम में प्रवेश पाया। पहले कुछ वर्षों तक इन्होंने आश्रम के मुख्य भवन पर 'गेट-ड्यूटी' की, पुस्तकालय में काम किया और अंग्रेज़ी के अध्यापक रहे। उसके बाद, १९३८ में इन्होंने आश्रम के मुख्य भवन के बग़ीचे का सारा कार्य-भार सँभाल लिया। अगले पचास वर्षों तक ये आश्रम के बग़ीचों के मुखिया रहे। ५६ वर्षों तक, अपनी मृत्यु-पर्यन्त, ये आश्रम में रहे; इनका देहावसान २७ अगस्त १९९१ में ८६ वर्ष की अवस्था में हुआ।

*माँ के साथ परिचन्द का पत्र-व्यवहार दो भागों में है, "साधना तथा जीवन" और "बाग़बानी का काम"; यह पत्राचार १९३६ से १९६१ के बीच हुआ।*

*माँ,*

*कभी-कभी भोजनालय में दी गयी सब्ज़ी का स्वाद अरुचिकर होता है, लेकिन इसके बावजूद, मैं पुरानी आदतों को तोड़ने तथा स्वाद की समता प्राप्त करने के लिए खाये जा रहा हूँ। क्या आप चाहती हैं कि मैं यही करूँ?*

निःसन्देह, स्वाद की संकीर्णता और सीमितता को तोड़ना अनिवार्य होता है—जो सब्ज़ियाँ तुम्हें ख़राब लगती हैं, दूसरे उन्हें उत्तम मानते हैं।
१९३६

*माँ,*

*आपकी ७ दिसम्बर १९१२ की प्रार्थना में निम्नलिखित वाक्य है :*

*"तेरी शान्ति मेरे अन्दर है और उस शान्ति में मैं केवल तुझे ही शाश्वत की अचञ्चलता के साथ सभी चीज़ों में उपस्थित देखती हूँ।" "शाश्वत की अचञ्चलता" वाक्यांश का संकेत "मैं" या "तू" किससे है?*

यह इस तरीक़े की इतनी सुस्पष्ट चीज़ नहीं है। यह वह वातावरण है जिसमें अनुभूति हो रही है।

*५ दिसम्बर १९१२ की आपकी प्रार्थना में एक पंक्ति है, "तू, तेरे सिवा कुछ नहीं, बिना किसी विश्लेषण या विषयनिष्ठता के।" यहाँ "विषयनिष्ठता" का अर्थ क्या है?*

किसी चीज़ को भगवान् के या अपने बाहर न समझना। १९३६

*माँ,*

*हमें आपकी १७ मई १९१४ की प्रार्थना में इस वाक्य का सच्चा अर्थ समझने में कठिनाई हो रही है: "पहले मानों प्रार्थना की शक्ति तब तक पूरी न होगी जब तक वह काग़ज़ पर न उतार ली जाये," हम शब्दों की सहायता से प्रार्थना करते हैं, परन्तु क्या लिखित प्रार्थना मौखिक प्रार्थना से अधिक प्रभावकारी होती है? कृपया इस वाक्य का अर्थ स्पष्ट कर दीजिये।*

तुम्हें इस पुस्तक को कभी इस तरह न पढ़ना चाहिये मानों वह सामान्य नियम दे रही है। लिखी हुई हर एक अनुभूति एक विशेष उदाहरण होती है। और फिर, वाक्य की रचना यह बतलाती है कि यह कोई विशेष, हो सकता है अपवादिक मामला है। ये वाक्य-रचना की सूक्ष्मताएँ हैं जिनमें फ्रेंच का अच्छा ज्ञान रखने वाला भी भूल कर सकता है।

**गुह्य** दृष्टिकोण से :

१. शब्दों में रची गयी चीज़ अस्पष्ट रूप से सोचे गये विचारों से ज़्यादा शक्तिशाली होती है।

२. शब्दों में रचित चीज़ की अपेक्षा ज़ोर से उच्चारित चीज़ में ज़्यादा शक्ति होती है।

३. और अन्त में, लिखी हुई चीज़ केवल उच्चारित चीज़ से ज़्यादा शक्तिशाली होती है, लेकिन इसका सम्बन्ध केवल **गुह्य क्रिया** से है।

१९३७

*माँ,*

*आधा घण्टा, १० से १०.३० तक मुझे "अन्तर्दर्शनों" पर काम करने के लिए काफ़ी समय नहीं लगता। आपकी अनुमति हो तो मैं उस पर ११ बजे तक काम कर सकता हूँ। लेकिन तब मैं ध्यान में सम्मिलित न हो सकूँगा क्योंकि तब मैं द्वार पर अपने काम पर रहूँगा।*

मुझे नहीं लगता कि ध्यान को छोड़ना ठीक है, वह अपने-आपको फिर से सत्य-चेतना में निमज्जित करने का एक अच्छा अवसर है।

१९३८

ध्यान चिन्तन और स्मरण का समय है जिसमें तुम्हें भगवान् के प्रति अपने उत्सर्ग, अपने निवेदन और अपने समर्पण को नया और ताज़ा करना चाहिये। उसे न छोड़ना दिन के सन्तुलन के लिए ज़रूरी है।

१९३८

*माँ,*

*आज शाम को ध्यान के समय मुझे दो बार चक्कर और घुटन का अनुभव हुआ और मुझे लगा कि मैं मूर्च्छित होने वाला था। इस अनुभूति ने मेरे ध्यान में दो बार बाधा डाली। मुझे लगा कि आप पर मेरा भरोसा डाँवाडोल हो रहा था; अन्यथा कोई चीज़ मेरे ध्यान में बाधा न डाल पाती। पहले भी मुझे ऐसा अनुभव हो चुका है, विशेष रूप से जब मैं भीड़ में या लोगों से भरे कमरे में था।*

शायद चक्कर इसलिए आते हैं कि कमरा बहुत भरा होता है। क्या तुम्हारे लिए ताज़ी हवा में बाहर बैठना ज़्यादा अच्छा न होगा?
१९३८

*माँ,*

*जब बाहरी प्रकृति बहुत उत्तेजित हो उठती है तथा सहज शान्ति और एकाग्रता का अभाव होता है तो एकाग्र होने का मेरा कोई भी प्रयास एक तरह की तपस्या बन जाता है। इस मार्ग से विचलित करने के लिए बहुत-से सुझाव आते हैं जो मुझसे कहते हैं कि तपस्या की यह वृत्ति उतनी प्रभावकारी नहीं है जितनी प्रयासहीन स्थिति। लेकिन मुझे लगता है कि यह प्रयास, यह तपस्या तब तक ज़रूरी है जब तक बाहरी प्रकृति शुद्ध न हो जाये। कृपया मुझे कुछ आदेश दीजिये।*

दोनों ज़रूरी हैं और हर एक अपने समय पर आती है।
१९३८

*माँ,*

*मेरे अन्दर कोई चीज़ कहती है कि अनावश्यक चीज़ों के बारे में प्रश्न पूछ-पूछ कर आपके काम में विघ्न नहीं डालना चाहिये। क्या यह सुझाव सच है?*

यह नहीं कहा जा सकता कि यह सत्य है या मिथ्या, क्योंकि हर मामला अलग होता है। कोई सामान्य मानसिक नियम सच्चा नहीं हो सकता। केवल आन्तरिक सम्पर्क द्वारा ही तुम्हें निश्चित पथ-प्रदर्शन मिल सकता है। बहरहाल, बहुत कम बातें पूछने की अपेक्षा बहुत अधिक पूछना ज़्यादा अच्छा है।
१९३८

*माँ,*

*काम और अपनी आन्तरिक वृत्ति के बारे में बहुत-से प्रश्न मेरे अन्दर उमड़ते आते हैं, कुछ स्पष्ट रूप से और कुछ अस्पष्ट रूप से। मेरा एक भाग कहता है, "जितनी अच्छी तरह हो सके इन प्रश्नों को पकड़ लो, छोटी-छोटी लहरियों तक को न छोड़ो और उन्हें माँ के सामने रख दो।" दूसरा भाग कहता है, "माँ को यह पसन्द न आयेगा क्योंकि इन चीज़ों के लिए उनके पास बहुत कम समय है। जब तक चीज़ें अन्दर से स्पष्ट न हो जायें तब तक प्रतीक्षा करो।" इस दूसरे सुझाव के अनुसार चल कर कभी-कभी मैंने बहुत बड़ी भूलें की हैं। अगर मैंने आपसे पूछ लिया होता तो ये भूलें न होतीं।*

*आपके शुद्धि के कार्य को सरल बनाने के लिए मुझे क्या वृत्ति अपनानी चाहिये?*

दिव्य 'प्रकाश' और 'शक्ति' के प्रति **निश्चल उद्‌घाटन** की सामान्य वृत्ति ब्योरों में जाने की अपेक्षा ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है। हमेशा समर्पण की इच्छा को याद रखो। ब्योरों में यथार्थता निश्चय ही बाद में आ जायेगी।

मेरा प्रेम और आशीर्वाद।

१९३८

*माँ,*

*आपने एक बार मुझसे कहा था कि जब तुम कुछ करने बैठते हो तो मन में जो पहली प्रेरणाएँ या पहले सुझाव आते हैं वे ठीक और सच्चे होते हैं। लेकिन बहुधा मन और प्राण की विरोधी शक्तियाँ बड़ी अस्त-व्यस्तता लाने के लिए घात में लगी रहती हैं। चूँकि अभी तक मेरा विवेक स्पष्ट या निश्चित नहीं है इसलिए मुझे लगता है कि मुझे अपनी पहली प्रेरणाओं को भौतिक रूप में लिख कर, आपके सामने रखना चाहिये ताकि गतिविधि को विकृत होने से बचाया जा सके।*

*लेकिन क्या यह विस्तार में जाना न होगा, जिसके बारे में आपने मुझसे कहा था कि अभी वह सामान्य वृत्ति या निश्चल उद्‌घाटन की तरह सबसे महत्त्वपूर्ण चीज़ नहीं है। तो इस तरह के विस्तार में जाने से कैसे बचा जाये?*

समर्पण और उत्सर्ग की आन्तरिक वृत्ति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है और हो सके तो इसे दिन-रात बनाये रखना चाहिये।

आन्तरिक नीरवता में जो प्राप्त किया गया है उस पर नियन्त्रण रखने के लिए कभी-कभी मुझे लिख कर, अर्थात् भौतिक उल्लेख द्वारा बताया जा सकता है। कहने का मतलब यह कि अगर तुमने कुछ पूछा है और तुम्हें आन्तरिक उत्तर मिला परन्तु तुम अपने बोध के बारे में

निश्चित नहीं हो तो तुम उसकी सत्यता जानने के लिए मुझे लिख सकते हो।

मेरा प्रेम और आशीर्वाद।

१९४०

*माँ,*

*काम करते हुए अप्रिय स्पन्दन मेरे मन और हृदय को अस्त-व्यस्त कर देते हैं और विकृत गतिविधियाँ मेरी दृष्टि को अन्धा बना देती हैं। कभी-कभी मुझे लगता है कि आपके यहाँ से आने वाली प्रेरणाएँ नहीं बल्कि विरोधी स्रोत की प्रेरणाएँ मुझे चलाती हैं, फिर भी मैं ठीक और ग़लत में विवेक नहीं कर पाता। माँ, अन्धकारमयी शक्तियाँ अभी तक मेरी प्रकृति पर राज्य कर रही हैं इसलिए मुझे आपका यन्त्र बनने में समय लगेगा।*

शक्तियों के बीच विवेक मन की **अचञ्चलता** में आ सकता है। अपने मन को नीरव रखो तो अधिकतम समस्याओं का समाधान हो जायेगा।

मेरा प्रेम और आशीर्वाद।

१९४०

*माँ,*

*मेरे अन्दर काम को बढ़ाने की जगह घटाने की वृत्ति बढ़ रही है—काम कम करूँ पर ज़्यादा अच्छी तरह और अधिक सावधानी से करूँ। माँ, क्या मेरी यह वृत्ति ठीक है या कोई ग़लत भाव मुझे परिचालित कर रहा है?*

हाँ, यह ठीक है, अधिक करने की अपेक्षा अधिक अच्छा करो।

मेरा प्रेम और आशीर्वाद।

१९४०

*माँ,*

*हमेशा काम के बाद काम में लगे रहने की वृत्ति ने अब अपना स्थान अकर्मण्यता की वृत्ति को दे दिया है। थोड़े-से काम के बाद थकान आ जाती है और शरीर प्रबल रूप से नीचे की ओर धँस जाता है। कोई उत्साह, कोई विजयी इच्छा नहीं रहती। मैं हमेशा के लिए इन चीज़ों से कैसे पिण्ड छुड़ा सकता हूँ?*

अधिक सम्भव तो यह है कि यह चीज़ कुछ समय के लिए ही है और शीघ्र ही तुम्हें छोड़

जायेगी। लेकिन इसके बारे में चिन्ता न करो और शान्त रहो। उसे जल्दी विदा देने के लिए यही सबसे अच्छा तरीक़ा है।

मेरा प्रेम और आशीर्वाद।

१९४०

*माँ,*

*परसों मैंने 'क्ष' के यहाँ चाय पी और कुछ खाया भी। चाय के तुरन्त बाद मैंने पानी भी पिया। मुझे रात के एक बजे तक नींद न आयी। अगले दिन और आज भी मुझे सूखे ज़ुकाम, बेचैनी, भारीपन, ज्वर और हलके सिर-दर्द की तकलीफ़ रही। क्या यह गति आपसे पूछे बिना चाय-पानी स्वीकार करने के कारण हुई?*

नहीं, इस कारण नहीं—अधिक सम्भव है कि इसका कारण होगा गरम चाय पर ठण्डा पानी पीना।

मेरा प्रेम और आशीर्वाद।

१९४०

*दिव्य जननि,*

*यद्यपि मेरा मन करता है कि चाहे माँ मेरे पत्रों का उत्तर न भी दें फिर भी मुझे ज़रा भी निराश न होना चाहिये, फिर भी मेरा प्राण झिझकता है और बैठने-सा लगता है। वह किसी उत्तेजक की इच्छा करता है और मन को उदास करने की कोशिश करता है। आज मैं एक तरह की शुष्कता और शिथिलता का अनुभव करता रहा।*

*हे माँ, मैं प्रार्थना करता हूँ, भीतरी या बाहरी तरीक़े से यह जान पाऊँ कि मेरी क्या स्थिति है, मैं तुम्हारी इच्छा पूरी कर पाऊँ। मैं तुम्हारा होना चाहता हूँ, मुझे उठा लो।*

तुम्हें चिन्ता न करनी चाहिये—अवसाद और चिन्ता विरोधी प्रभाव के परिणाम हैं। उन्हें एकदम त्याग देना चाहिये। अपनी भूल पर केवल मानसिक चिन्ता करना या...

(यहाँ उत्तर का बाक़ी भाग नहीं मिला)

१९४०

*माँ,*

*मेरी प्रकृति के कुछ भाग विक्षुब्ध हैं। क्या यह किसी ग़लत मनोवृत्ति के कारण है या कोई अवचेतन उथल-पुथल है? आपकी कृपा से मेरा आन्तरिक सन्तुलन ठीक है, लेकिन मेरी बाहरी प्रकृति अभी तक भारी, दुर्बल और बेचैन है। मैं इन्हें*

*पार कर सकने का तरीक़ा जानने की अभीप्सा करता हूँ।*

उनकी उपेक्षा करो और अपना ध्यान किसी और दिशा में मोड़ दो।
२४ दिसम्बर १९४५

*दिव्य जननि,*

*पर्याप्त शारीरिक हलचल के बावजूद मेरी कोष्ठबद्धता बनी हुई है और परिणामस्वरूप शरीर में मन्दता है। चूँकि मेरी आन्तरिक चेतना अभी तक शरीर के आधीन है अतः बहुधा प्राण और मन के भागों में अवसाद रहता है। अगर 'मिल्क ऑफ़ मैग्नीशिया' जैसा कोई रेचक ले लूँ तो शायद यह गड़बड़ ठीक हो सकती है, लेकिन उसका अर्थ होगा बाहरी सहायता पर आश्रित रहना। मुझे शंका है कि आप रेचक का उपयोग पसन्द करती हैं या नहीं।*

*माँ, मैं विनम्रता और सच्चाई के साथ आपके पथ-प्रदर्शन के लिए प्रार्थना करता हूँ और ऊपर उठाने वाली कृपा माँगता हूँ ताकि मैं इन विकारों से पिण्ड छुड़ा सकूँ और 'आपका' सबल, प्रसन्न और आलोकमय सेवक बन सकूँ।*

'मिल्क ऑफ़ मैग्नीशिया' ले लो, साथ ही यह प्रतिज्ञा करो कि तुम 'सबल, प्रसन्न और आलोकमय सेवक' **बनो**, (बन सको नहीं) अब उसके लिए और प्रतीक्षा करने की ज़रूरत नहीं।

मेरा प्रेम और आशीर्वाद।
९ सितम्बर १९४६

*माँ,*

*मेरी प्रकृति की पिछली असफलताएँ और हिचकिचाहटें, उसकी कुटिलताएँ तथा श्रद्धाहीनताएँ कभी-कभी मेरे ऊपर आघात करती हैं। क्या मुझे इस ओर कोई ध्यान देना चाहिये?*

इन चीज़ों पर ध्यान न देना ज़्यादा अच्छा है। मुक्ति की ओर पहला क़दम है सामान्य अनासक्ति।

मेरा प्रेम और आशीर्वाद।
१९४६

*दिव्य जननि,*

*महीने-पर-महीने और वर्ष-पर-वर्ष बीतते जाते हैं लेकिन मेरी सत्ता में कोई निर्णायक उद्घाटन नहीं होता, मेरी चेतना में कोई निश्चित परिवर्तन नहीं आता।*

*कभी-कभी मेरा हृदय इस विचार से काँप उठता है कि मेरी मनोवृत्ति में कुछ भूल है, कि मेरी प्रकृति में अमुक विकृत आदतें हैं जो आपके साथ मधुर, भक्तिपूर्ण, बालवत् चैत्य सम्बन्ध का विरोध करती हैं।*

*आज हे माँ, मेरे अन्दर एक प्रबल प्रेरणा उठ रही है कि मैं आपके पास आऊँ ताकि आप विरोध की सच्ची प्रकृति पर प्रकाश डालें और मुझे इस जटिलता में से निकलने का तेज़ रास्ता दिखलाएँ।*

प्रकृति में, विशेष रूप से भौतिक प्रकृति में ज़रा-सा परिवर्तन चरितार्थ करने में भी **बड़ा लम्बा समय लग जाता है**। अतः, पहली शर्त है **बहुत अधिक** धीरज धरना।

मेरा प्रेम और आशीर्वाद।

९ अप्रैल १९४७

*मेरी मधुर माँ,*

क्या मैं भी खेल के मैदान में मार्चिंग के लिए अपने बाल कटवा लूँ? सामान्य बाल कटवाना काफ़ी होगा या तरशवाना चाहिये?

सामान्य कटवा लेना ठीक है।

३१ जनवरी १९४९

*माँ,*

*डॉ.'क' का कहना है कि 'क्ष' की शल्य-चिकित्सा के दिन शुक्रवार को और उसके बाद भी दो-एक दिन तक के लिए मुझे और 'ज्ञ' को व्यवस्था करनी चाहिये कि दिन और रात में बारी-बारी से कोई उसके पास रहे। उनका कहना है कि उन्होंने आपकी स्वीकृति ले ली है। क्या मैं इसके अनुसार व्यवस्था करूँ?*

'क्ष' शल्य-क्रिया की सम्भावना से ही बहुत डर गया है, अतः मैंने शल्य-क्रिया न करवाने की सलाह दी है।

१९४९

*माँ,*

*आजकल मुझे एक कठिनाई हो रही है। आजकल विशेष पकवानों का प्रचार बढ़ गया है और कभी-कभी मुझे भी खाने का निमन्त्रण मिलता है। कभी-कभी मैं मना कर देता हूँ और कभी मना करना कठिन लगता है। मैं जब कभी खाना स्वीकार*

*कर लेता हूँ तो मेरी चेतना में चुभन-सी होती है, मेरी क्या वृत्ति होनी चाहिये?*

यह सामान्यतः निमन्त्रण देने वालों पर निर्भर करता है। मैं कोई सामान्य उत्तर नहीं दे सकती।

मेरे आशीर्वाद।

१८ मार्च १९५०

*माँ,*

*'क्ष' को और मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि 'क' ने आपको लिखा है कि उसने हमारे दबाव के कारण आपको काम के लिए लिखा था। मैंने उसका नाम आपके आगे इसलिए रखा था क्योंकि मैं उसके शब्दों से प्रभावित हुआ था। मैंने सोचा कि काम लेने में इसे कोई आपत्ति न होगी। अब मैंने सुना है हमारे इस काम से आप नाराज़ हैं। मैं अपने दोषों के बारे में सचेतन नहीं हूँ, मुझे लगता है कि मैं अपने निर्णय के बारे में ग़लती पर था। मैं अचेतन रूप से की गयी भूलों के लिए क्षमा माँगता हूँ।*

तुम्हारी क्रियाओं के लिए मैंने **कभी ज़रा भी अप्रसन्नता** प्रकट या व्यक्त नहीं की। लोग **मेरे नाम** से जो कुछ कहते या व्यक्त करते हैं उसके बारे में **सावधान रहो**, क्योंकि सामान्यतः वह **विकृत** होता है।

बहरहाल, चिन्ता न करो। सब कुछ ठीक हो जायेगा।

मेरे प्रेम और आशीर्वादों के साथ।

२५ मई १९६१

**श्रीमाँ**

# पूर्ण योग का सिद्धान्त

(योग समन्वय में) समन्वय की जिस पद्धति का हम अनुसरण करते आ रहे हैं उसमें मूलतत्त्व के एक अन्य ही सूत्र का अनुसरण किया गया है जिसका मूल योग की सम्भावनाओं के एक और ही दृष्टिकोण में निहित है। यह तन्त्र के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए वेदान्त की पद्धति को लेकर चलता है। तान्त्रिक प्रणाली में शक्ति ही सर्वप्रधान है, वही आत्मा की खोज की कुञ्जी है; हमारे समन्वय में आत्मा, पुरुष सर्वप्रधान है, वही शक्ति को ऊपर ले जाने की रहस्यमय कुञ्जी है। तन्त्र-प्रणाली निचले तल से आरम्भ करती है और आरोहण की सीढ़ी पर ऊपर की ओर पग रखती हुई शिखर तक पहुँचती है; अतः, सबसे पहले यह शरीर और उसके केन्द्रों (चक्रों) के स्नायुमण्डल में जागरित शक्ति की क्रिया पर बल देती है; षट् पद्मों (चक्रों) का उद्घाटन आत्मा की शक्ति के स्तरों का ही उद्घाटन है। हमारा समन्वय मनुष्य को देहगत आत्मा की अपेक्षा कहीं अधिक मनोगत आत्मा मानता है और उसके अन्दर यह शक्ति भी स्वीकार करता है कि वह इसी स्तर से योग-साधना आरम्भ कर सकता है, उच्चतर आध्यात्मिक शक्ति एवं सत्ता की ओर अपने-आपको सीधे खोल देने वाले मनोमय पुरुष की शक्ति से अपनी सत्ता को आध्यात्मिक बना सकता है और इस प्रकार वह जिस उच्चतर शक्ति को प्राप्त करता तथा कार्यरत कर देता है उसके द्वारा अपनी सम्पूर्ण प्रकृति को पूर्ण बना सकता है। इसी कारण हमने आरम्भ में इस बात पर ज़ोर दिया है कि मनोमय पुरुष की शक्तियों का उपयोग करके आत्मा के तालों में ज्ञान, कर्म और प्रेम की त्रिविध कुञ्जी लगायी जाये। हठयोग की विधियों को छोड़ा जा सकता है—यद्यपि उनके आंशिक प्रयोग में हमें कोई आपत्ति नहीं—राजयोग की विधियाँ एक अनियमित अंग के रूप में ही प्रवेश पा सकती हैं। छोटे-से-छोटे मार्ग के द्वारा आध्यात्मिक शक्ति और सत्ता के विस्तृत-से-विस्तृत विकास तक पहुँचना और उसके द्वारा मानव-जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्र में मुक्त प्रकृति को दिव्य बनाना ही हमारा प्रेरणात्मक हेतु है।

जो मूल सूत्र हमारी दृष्टि के सम्मुख है वह है आत्म-समर्पण, मानव सत्ता को भगवान् की सत्ता, चेतना, शक्ति और आनन्द में उत्सर्ग कर देना, मनुष्य तथा मनोमय प्राणी की आत्मा में भगवान् से मिलने के जितने भी केन्द्र-बिन्दु हैं उन सब पर मिलन या अन्तःसम्पर्क प्राप्त करना, जिसके द्वारा स्वयं भगवान् अपने को परदे के पीछे छिपाये बिना, प्रत्यक्ष रूप में मानव यन्त्र के शासक और स्वामी बन कर, अपने सान्निध्य और मार्गदर्शन की ज्योति से मनुष्य को दिव्य जीवन यापन करने के लिए प्रकृति की सभी शक्तियों में पूर्ण बना दें।

CWSA खण्ड २४, पृ. ६१२-१३ **श्रीअरविन्द**

# अन्तर में भगवान्

हमारे अन्दर जो कुछ पूरी तरह अन्तर के भगवान् को निवेदित नहीं है, वह टुकड़े-टुकड़े करके वस्तुओं की उस समग्रता के अधिकार में है जो हमें घेरे रहती है और उस चीज़ पर क्रिया करती है जिसे हम अनुचित रूप में अपना "स्व" कहते हैं। वह या तो इन्द्रियों के द्वारा या सुझावों के द्वारा सीधी मन पर क्रिया करती है।

सचेतन सत्ता बनने का, स्वयं बनने का एक ही मार्ग है और वह है भागवत आत्मा के साथ एक होना जो सबमें विद्यमान है। उसके लिए हमें एकाग्रता की सहायता से अपने-आपको बाहरी प्रभावों से अलग कर लेना चाहिये।

जब तुम अन्तर के भगवान् के साथ एक होते हो तो तुम सभी चीज़ों के साथ उनकी गहराइयों में एक हो जाते हो। तुम्हें उस भागवत तत्त्व में, 'उसी' के द्वारा उनके साथ नाता जोड़ना चाहिये। तब तुम बिना किसी आकर्षण या अपकर्षण के, जो कुछ 'उनके' निकट हो उसके निकट और जो कुछ 'उनसे' दूर हो उससे दूर होओगे।

दूसरों के साथ रहते हुए तुम्हें हमेशा एक दिव्य उदाहरण होना चाहिये। तुम्हें एक ऐसा अवसर बनना चाहिये जो उन्हें भागवत जीवन को समझने और उसके मार्ग पर चलने के लिए दिया गया है। इससे बढ़ कर कुछ नहीं; तुम्हारे अन्दर यह चाह भी नहीं होनी चाहिये कि वे प्रगति करें, क्योंकि यह भी तुम्हारी मनमानी ही होगी।

जब तक तुम निर्णायक रूप से अन्दर के दिव्यत्व के साथ एक नहीं हो जाते तब तक बाहर के साथ सम्बन्धों के बारे में सबसे अच्छा तरीक़ा यह है कि जिन्हें इस एकता का अनुभव है उनकी एकमत से दी हुई सलाह के अनुसार चलो।

हमेशा सतत शुभेच्छा की स्थिति में रहना—इसे अपना नियम बना लो कि किसी चीज़ से परेशान नहीं होना और किसी की परेशानी का कारण नहीं बनना और, जहाँ तक हो सके, किसी को कष्ट नहीं पहुँचाना।

८ जून १९१२ **'श्रीमातृवाणी'**, खण्ड २, पृ. १२१

# साधना का केन्द्रीय रहस्य

चैत्य रूप से श्रीमाँ के प्रति उद्घाटित रहने से कार्य या साधना के लिए जो कुछ ज़रूरी हो वह धीरे-धीरे विकसित होता रहता है—यह साधना के मुख्य रहस्यों में से एक है, सचमुच साधना का केन्द्रीय रहस्य है।
CWSA खण्ड ३२, पृ. १५४

सतत स्मरण के द्वारा ही सत्ता पूर्ण उद्घाटन के लिए तैयार होती है। हृदय के उद्घाटन से माताजी की उपस्थिति का अनुभव होना शुरू होता है और ऊपर की उनकी 'शक्ति' के प्रति उद्घाटित होने पर उच्चतर चेतना शरीर में उतर आती है और व्यक्ति की समस्त प्रकृति को बदलने के लिए वहाँ कार्य करती है।
CWSA खण्ड ३२, पृ. १६७

श्रीमाँ की सतत उपस्थिति अभ्यास के द्वारा आती है; साधना में सफलता पाने के लिए 'भागवत कृपा' अत्यन्त आवश्यक है, पर अभ्यास ही वह चीज़ है जो 'कृपा' के अवतरण के लिए तैयारी करती है।

तुम्हें अन्दर की ओर जाना सीखना होगा, केवल बाहरी चीज़ों में ही रहना बन्द करना होगा, मन को स्थिर करना होगा और अपने अन्दर होने वाली श्रीमाँ की क्रिया के विषय में सचेतन होने की अभीप्सा करनी होगी।
CWSA खण्ड ३२, पृ. १७२

तुम्हें बस अभीप्सा करनी चाहिये, अपने-आपको श्रीमाँ के प्रति खुला रखो, उन सभी चीज़ों का त्याग कर दो जो श्रीमाँ की इच्छा का विरोध करें और उन्हें अपने अन्दर कार्य करने दो—अपने सभी काम उन्हीं के लिए करो और इस श्रद्धा के साथ करो कि उन्हीं की शक्ति के द्वारा तुम कार्य करने में समर्थ हो। अगर तुम इस तरह खुले रहो तो समय के साथ-साथ तुम ज्ञान तथा उपलब्धि प्राप्त कर लोगे।
CWSA खण्ड ३२, पृ. १५४ **श्रीअरविन्द**

# ७ दिसम्बर १९५५ के वार्तालाप का अंश

*माताजी, मनुष्य अपना समर्पण तभी कर सकता है जब वह काफ़ी ऊँचे स्तर पर पहुँच गया हो, लेकिन जब कोई लगभग अचेतन जीवन बिता रहा हो तो उसका आत्म-निवेदन भी न्यूनाधिक मानसिक होगा, है न? और उसका कोई असर नहीं होता। तब क्या करना चाहिये? क्या हम एकदम शुरू से आत्म-दान शुरू कर सकते हैं?*

यह व्यक्तियों पर निर्भर करता है, मेरे बालक।

ऐसे लोग हैं जिनमें चैत्य गतिविधि, भावमय आवेग बौद्धिक समझ से ज़्यादा सशक्त होते हैं। वे बिना जाने भगवान् के लिए अदमनीय आकर्षण का अनुभव करते हैं, उन्हें ज़रा भी ख़याल तक नहीं होता कि वह है क्या, वह क्या हो सकता है, वह किसका प्रतीक है—कुछ भी नहीं, कोई बौद्धिक धारणा नहीं होती—किन्तु उनमें एक प्रकार का आवेग, आकर्षण, एक आवश्यकता, अनिवार्य आवश्यकता होती है।

और ऐसे लोग जिनमें यह चीज़ होती है—अगर मैं कहूँ कि यह 'कृपा' के परिणामस्वरूप होती है—उनका मन ऐसा होता है जो उन्हें कष्ट नहीं देता, जो प्रश्न नहीं करता, बहस नहीं करता, वे बड़ी तेज़ी से बढ़ते हैं।

और फिर, जो चीज़ साधारण विचारों के अनुसार बिलकुल चमत्कारी है वह यह कि जैसे ही वे आत्म-निवेदन के उस स्तर तक पहुँच जाते हैं जहाँ वे अपनी चैत्य सत्ता द्वारा 'भागवत उपस्थिति' के साथ तादात्म्य पा लेते हैं, वैसे ही अचानक उनके अन्दर अभिव्यक्ति की ऐसी क्षमताएँ आ जाती हैं जो उनकी प्रकृति के लिए बिलकुल अजानी थीं।

बहुत पहले, मैंने फ़्रांस में एक उदाहरण देखा था, एक छोटी, बहुत छोटी लड़की थी जिसने, हम कह सकते हैं, कभी कोई शिक्षा नहीं पायी थी, कोई प्रशिक्षण नहीं पाया था; वह एक ऑपेरा नर्तकी थी और बहुत अच्छी थी। उसे आठ वर्ष की अवस्था में नाच सीखने के लिए भेजा गया था, जैसा कि हमेशा किया जाता है, यानी बचपन में; और उसने इतिहास, भूगोल, गणित और अन्य विषय सीखने की जगह नृत्य सीखा था। वह अपने-आपको व्यक्त करना नहीं के बराबर जानती थी। उसकी बुद्धि थी तो स्पष्ट, पर थी अनगढ़। हाँ तो, वह इस तरह आकर्षित हुई और उसने भगवान् को खोजने की, अपने-आपको उनके प्रति उत्सर्ग करने की अदम्य आवश्यकता का अनुभव किया। और पहले उसने उनके मान में 'नोत्र दाम' के नट की तरह नाचना शुरू किया; और वह सचमुच विलक्षण रूप से अच्छा नाची। तब, अचानक, उसकी इच्छा हुई कि वह जो अनुभव करती है उसे अभिव्यक्त करे : उसने पत्र लिखने शुरू किये जो अद्‌भुत रूप से काव्यमय थे; वह आश्चर्यजनक बातें कहती और कहने का ढंग तो और भी अधिक आश्चर्यजनक होता था; पन्ने-पर-पन्ने उलटते जाते और वह यह सब असाधारण

सरलता के साथ लिखती चली जाती थी।

अब ऐसा हुआ कि कुछ परिस्थितियों के कारण, उसके आगे कुछ कठिनाइयाँ आयीं, उसकी प्रकृति में कुछ ऐसी चीज़ थी जिसने उसे अपने पुराने स्वभाव की ओर खींचा जिसे वह छोड़ चुकी थी, जिसने उसे व्यावहारिक और भौतिकतावादी बना दिया और वह चीज़ों को बाहरी रूप में देखने लगी। और तुरन्त वह दो शब्द जोड़ने में भी असमर्थ हो गयी, वह वर्तनी की अनगिनत भूलें किये बिना एक पंक्ति भी न लिख पाती थी।

जब वह प्रेरणा की स्थिति में होती थी तो वह एक भी भूल किये बिना, किसी बड़े लेखक की तरह लिखती थी; और जैसे ही वह उस स्थिति से बाहर, सांसारिक चेतना में आ जाती थी, जीवन की ज़रूरतों, हर क्षण की आवश्यकताओं आदि की चेतना में आ जाती थी कि सब कुछ ग़ायब हो जाता था। वह भूलें किये बिना एक पंक्ति भी न लिख पाती थी और वह बिलकुल अपरिष्कृत चीज़ होती थी।

तो देखो, यह प्रमाणित करता है कि अगर तुम सत्य-चेतना को पा लो, तो फिर समाधान करने के लिए कोई समस्या ही नहीं रह जाती। तुम्हें जो होना चाहिये, तुम वही बन जाते हो। तुम्हें जो जानना चाहिये, तुम जान लेते हो। और तुम्हें जो करना चाहिये, वह करने की सामर्थ्य तुम्हारे अन्दर होती है। और स्वभावतः इसका मतलब यह होता है कि ये सब तथाकथित कठिनाइयाँ तुरन्त ग़ायब हो जाती हैं।

मैं जिस लड़की की बात कह रही हूँ, उसे नीचे खींचने वाली चीज़ उसके अपने अन्दर नहीं थी, वह किसी और व्यक्ति में थी। और दुर्भाग्यवश, यही बहुधा होता है : व्यक्ति जीवन में कुछ ऐसे उत्तरदायित्वों का भार ले लेता है जो उसे आगे बढ़ने से रोकते हैं।

यही है मेरी कहानी।

कुछ अन्य लोग पहले समझते हैं, वे बहुत ज़्यादा बुद्धिप्रधान होते हैं, वे पढ़े-लिखे होते हैं, शब्दों और विचारों के साथ खेल सकते हैं, वे सभी दर्शनों, धर्मों, सभी मानव कल्पनाओं के बारे में बहुत बढ़िया भाषण दे सकते हैं, लेकिन शायद उन्हें एक क़दम आगे बढ़ने में बरसों लग जायेंगे। क्योंकि ये सब चीज़ें सिर में चलती रहती हैं।

सिर में बहुत-सी चीज़ें चलती रहती हैं। मैं पहले भी कई बार तुमसे कह चुकी हूँ कि सिर एक सार्वजनिक चौक की तरह है। वहाँ हर तरह की चीज़ प्रवेश पा सकती है, आती, इधर-उधर घूमती, बाहर जाती और बहुत-सी अव्यवस्था पैदा कर देती है। और जो लोग विचारों के साथ खेलने के अभ्यस्त होते हैं उन्हें आगे बढ़ने में सबसे अधिक बाधा मालूम होती है। यह एक खेल है जो काफ़ी मोहक और आकर्षक है; इससे तुम्हें ऐसा लगता है कि तुम साधारण जीवन के स्तर पर, बिलकुल मामूली नहीं हो, लेकिन यह पर कैंच देता है।

सिर में पंख नहीं हुआ करते : हृदय में होते हैं, यह... हाँ, यह अनिवार्य आवश्यकता है। और किसी चीज़ की गिनती नहीं है। यही सब कुछ है, केवल यही।

तो, आख़िर, तुम विघ्न-बाधाओं और कठिनाइयों के लिए ज़रा भी परवाह नहीं करते। वे

तुम्हारा क्या बिगाड़ सकती हैं?... उनकी कोई गिनती नहीं है। कभी-कभी तुम समय पर भी हँसते हो। अगर उसमें लम्बा समय लगे, तो हर्ज़ ही क्या है? अधिक लम्बे समय तक तुम्हें अभीप्सा का, आत्म-निवेदन का, आत्मदान का आनन्द मिलेगा।

क्योंकि यही एकमात्र सच्चा आनन्द है। और जब कोई अहंकारपूर्ण चीज़ हो, कोई माँग है जो समर्पण में घुली-मिली हो, जिसे व्यक्ति आवश्यकता कहता है, तो यह आनन्द मुरझा जाता है। अन्यथा आनन्द कभी लुप्त नहीं होता।

यह पहली चीज़ है जिसे तुम प्राप्त करते हो, और यही अन्तिम है जिसे तुम चरितार्थ करते हो। और यह 'विजय' का चिह्न है।

जब तक तुम आनन्द में, सतत, शान्त, निश्चल, प्रकाशमय, अपरिवर्तनशील आनन्द में न रह सको, हाँ, तब तक इसका मतलब है कि अभी अपने-आपको शुद्ध करने के लिए काम करना, और कभी-कभी कठोर परिश्रम करना बाक़ी है। लेकिन चिह्न यही है।

वियोग के भाव के साथ ही कष्ट, दुःख, दुर्गति, अज्ञान और सभी अक्षमताएँ आयी हैं। केवल सम्पूर्ण आत्मदान में अपने-आपको भुला देने से ही और पूर्ण निवेदन के द्वारा ही दुःख ग़ायब हो सकता है और उसकी जगह एक ऐसा **आनन्द** ले सकता है जिसे कुछ भी छिपा न सके।

और जब इस जगत् में यह आनन्द स्थापित हो जाये तभी जगत् का सच्चा रूपान्तर हो सकेगा और एक नया जीवन, नयी सृष्टि, नयी उपलब्धि प्राप्त हो सकेगी। पहले चेतना में आनन्द स्थापित होना चाहिये, उसके बाद भौतिक रूपान्तर होगा; पहले नहीं।

**'श्रीमातृवाणी',** खण्ड ७, पृ. ४३४-३८

# शारीरिक शिक्षा तथा रूपान्तर

मानव चेतना के जितने भी स्तर हैं उनमें भौतिक स्तर एक ऐसा स्तर है जो पूरी तरह से पद्धति, व्यवस्था, अनुशासन और प्रणाली के द्वारा नियन्त्रित होता है। जड़तत्त्व में जो नमनीयता और ग्रहणशीलता का अभाव है उसके स्थान पर हमें एक ऐसा सुविस्तृत सुसंगठन ले आना होगा जो सुनियत भी हो और व्यापक भी। इस सुसंगठन को लाते हुए, अवश्य ही, हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि हमारी सत्ता के सभी लोक-लोकान्तर परस्पर-सम्बद्ध, एक-दूसरे पर आश्रित और एक दूसरे में गुँथे हुए हैं। फिर भी, यदि किसी मानसिक या प्राणिक आवेग को शरीर के अन्दर व्यक्त होना हो तो उसे एक सुनिश्चित प्रणाली का अनुसरण करना होगा। यही कारण है कि शरीर की समस्त शिक्षा को, अगर उसे फलोत्पादक होना हो तो, कठोर और सविस्तार, दूरदर्शी और प्रणालीबद्ध होना होगा। उसे आदतों का रूप ग्रहण कर लेना होगा, क्योंकि शरीर सचमुच आदतों से गठित एक सत्ता है। परन्तु वे सब आदतें संयमित और नियमित होनी चाहियें और साथ ही उनमें इतनी पर्याप्त मात्रा में लोच होनी चाहिये कि वे सभी परिस्थितियों के और मानव आधार की वृद्धि और विकास की आवश्यकताओं के अनुकूल अपने को ढाल सकें।

शरीर की समस्त शिक्षा एकदम जन्म के साथ ही आरम्भ हो जानी चाहिये और जीवन-भर चलती रहनी चाहिये। उसके विषय में ऐसा कभी नहीं कहा जा सकता कि उसका आरम्भ बहुत जल्दी हो गया है अथवा वह बहुत देर तक चल रही है।

**'श्रीमातृवाणी'**, खण्ड १२, पृ. १४

शरीर की शिक्षा के तीन प्रधान पक्ष हैं : (१) शारीरिक क्रियाओं को संयमित और नियमित करना, (२) शरीर के सभी अंगों और क्रियाओं का सर्वांगपूर्ण, प्रणाली-बद्ध और सुसमञ्जस विकास करना और (३) शरीर में कोई दोष या विरूपता हो तो उसे सुधारना।

यह कहा जा सकता है कि जीवन के एकदम आरम्भिक दिनों से ही, बल्कि क़रीब-क़रीब आरम्भिक घण्टों से ही, बच्चे को भोजन, नींद, मलत्याग इत्यादि के विषय में पहले प्रकार की शिक्षा देनी चाहिये। अगर बच्चा अपने जीवन के एकदम प्रारम्भ से अच्छी आदतें डाल ले तो वह जीवन-भर बहुत-सी तकलीफ़ों और असुविधाओं से बचा रहेगा; साथ ही उसके जीवन के आरम्भिक वर्षों में उसकी देख-भाल का भार जिन लोगों पर होगा उनका काम भी बहुत अधिक आसान हो जायेगा।

स्वाभाविक है कि अगर इस शिक्षा को युक्तिपूर्ण ज्ञानसम्पन्न और फलदायी होना हो तो यह अवश्य ही मानव शरीर के सरसरे ज्ञान पर, उसकी संरचना और उसकी क्रियाओं के ज्ञान पर आश्रित होनी चाहिये। जैसे-जैसे बच्चा बड़ा हो, वैसे-वैसे उसे अपने अंग-प्रत्यंगों की क्रियाओं को देखने का अभ्यास कराना चाहिये ताकि वह उन्हें अधिकाधिक नियन्त्रित कर सके, इस बात

का ध्यान रख सके कि उनकी क्रियाएँ स्वाभाविक और सुसमञ्जस हों। जहाँ तक उठने-बैठने, हिलने-डुलने एवं अन्य चेष्टाओं के ढंग का प्रश्न है, बुरी आदतें बहुत कम उम्र में और बहुत जल्दी ही बन जाती हैं और वे सारे जीवन के लिए बड़े ख़तरनाक परिणाम उत्पन्न कर सकती हैं। जो लोग शिक्षा के प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हैं, अपने बच्चों को स्वाभाविक ढंग से विकसित होने के लिए उत्तमोत्तम सुविधाएँ देना चाहते हैं, उन सबको आवश्यक सूचनाएँ और निर्देश आसानी से प्राप्त हो सकते हैं। आज इस विषय का अध्ययन अधिकाधिक सावधानी के साथ किया जा रहा है और बहुत-सी पुस्तकें प्रकाशित हुईं और हो रही हैं जो इस विषय पर आवश्यक सभी प्रकार के निर्देश और ज्ञान प्रदान करती हैं।

**'श्रीमातृवाणी',** खण्ड १२, पृ. १४-१५

विस्तार तथा अचञ्चलता यौगिक चेतना की नींव हैं और हैं आन्तरिक विकास तथा अनुभूति के लिए सर्वोत्तम अवस्था। अगर शारीरिक चेतना में एक विस्तृत अचञ्चलता को प्रतिष्ठित कर लिया जाये जो स्वयं शरीर तथा उसके सभी कोषाणुओं पर छा जाये, उन्हें भर दे तो यह रूपान्तर का आधार बन सकता है; वस्तुतः, इस विस्तार तथा अचञ्चलता के बिना रूपान्तर प्रायः सम्भव ही नहीं होता।

CWSA खण्ड २९, पृ. १२५

शरीर की इस (उच्चतर) नियति की भूतकाल में विरले ही कभी कल्पना की गयी है या यहाँ पृथ्वी पर ऐसे शरीर की तो कल्पना ही नहीं की गयी है; उन उच्चतर रूपों की कल्पना या उनका अन्तर्दर्शन तो स्वर्गिक सत्ताओं के विशेषाधिकार के रूप में किया जाता है, उस आत्मा के रूप में नहीं जो अब तक अपने भौतिक घर और पार्थिव प्रकृति के साथ बँधी है। वैष्णव अतिमानसभावापन्न सचेतन शरीर—*चिन्मय देह* के बारे में कहते हैं, जो वेद में *ज्योतिर्मय देह* के नाम से सम्भवतः जानी जाती है। बहुत अधिक विकसित आध्यात्मिक लोगों के शरीरों से कइयों ने विकीरित होता हुआ प्रकाश देखा है, यहाँ तक कि उससे उनके चारों ओर एक प्रभामण्डल भी दिखलायी देता था, कहा जाता है कि इस तरह की घटना रामकृष्ण-जैसे महान् आध्यात्मिक व्यक्तित्व के जीवन में भी घटित हुई थी। लेकिन इन चीज़ों की अधिकतर या तो कल्पना की गयी है या ये सचमुच विरले और कभी-कदास ही दिखलायी देती हैं, क्योंकि शरीर के अधिकतर अंगों के लिए न तो यह माना जाता है कि उनमें आध्यात्मिक सम्भावना है या वह रूपान्तर के योग्य है।

CWSA खण्ड १३, पृ. ५४०

अतिमानसिकता के बिना शरीर में अमरता नहीं आ सकती; यौगिक शक्ति में यह सामर्थ्य होती है कि योगी २०० या ३०० साल या उससे भी अधिक जी सकें, लेकिन अतिमानस के

बिना कोई सच्चा सिद्धान्त अपने पैरों पर नहीं खड़ा रह सकता।

यहाँ तक कि विज्ञान भी अब इस पर विश्वास करने लगा है कि भौतिक साधनों के द्वारा मृत्यु को सम्भवत: जीता जा सकता है और उसके तर्क एकदम से उचित मालूम होते हैं। इसका कोई कारण नहीं कि 'अतिमानसिक शक्ति' इसे क्यों नहीं करेगी। पृथ्वी पर रूप और आकार चिरकाल के लिए इसलिए नहीं ठहरते (दूसरे क्षेत्रों में ऐसा होता है) क्योंकि आत्मा की प्रगति को उत्तरोत्तर अभिव्यक्त करने के लिए ये रूप बहुत कठोर और अनम्य होते हैं। अगर ये पर्याप्त रूप से सुनम्य बन जायें तो इसका कोई कारण नहीं कि ये हमेशा के लिए क्यों न बने रहें।
CWSA खण्ड २८, पृ. ३१३

मृत्यु इसलिए होती है क्योंकि शरीर में स्थित सत्ता अभी तक इतने पर्याप्त रूप में विकसित नहीं होती है कि परिवर्तन की आवश्यकता के बिना समान शरीर में बढ़ती जा सके और स्वयं शरीर भी पर्याप्त रूप से सचेतन नहीं होता। अगर मन और प्राण तथा स्वयं शरीर अधिक सचेतन और नमनीय होते तो मृत्यु की आवश्यकता नहीं रहती।

जहाँ तक अमरता की बात है, वह तब तक नहीं आ सकती जब तक शरीर के प्रति आसक्ति बनी रहे—क्योंकि अपनी सत्ता के अमर भाग में ही रह कर—जो शरीर के साथ तदात्म नहीं होता—और उस भाग की चेतना और शक्ति को कोषाणुओं में उतार कर ही अमरता को पाया जा सकता है। मैं यौगिक साधनों तथा तरीक़ों की बात कर रहा हूँ। अब वैज्ञानिक यह कहने लगे हैं (कम-से-कम सिद्धान्त रूप में) कि ऐसे भौतिक साधनों की खोज सम्भव है जिनसे मृत्यु को जीता जा सके, लेकिन उसका अर्थ होगा, बस वर्तमान शरीर में, वर्तमान चेतना का दीर्घीकरण—जब तक कि चेतना और उसके क्रिया-कलाप, उसकी गतियों में परिवर्तन न आये तब तक हमें सचमुच कोई लाभ न होगा।
CWSA खण्ड २८, पृ. ३१३-१४ **श्रीअरविन्द**

# श्रीअरविन्द के उत्तर

## (९३)

*यह एकदम सच बात नहीं है कि मेरी साधना का सिरा जब-तब मुझसे छूट जाता है। अपनी चिट्ठियों में मैं पाता हूँ कि हर महीने मुझे अनुभूतियाँ हुआ करती थीं। मुझे अच्छी तरह याद है कि कामुक-संवेदनों के छितराव के समय भी, मुझे कुछ अनुभूतियाँ हुई थीं। और क्या बहुत अधिक छितराव था? मुश्किल से एक घण्टे के लिए मैं लोगों से बातें करता हूँ, वह भी कभी-कदास और हमारी बातचीत सतही या छिछली नहीं होती। दूसरे छितरावों में, जैसे कभी मैंने जसवन्त को पुराणी के बारे में बातें बतलायीं या जब मैंने रोमेन को अपने पास रखा तो आपको मुझसे यह सब बन्द करने के लिए कहना चाहिये था न! तब आपको इतनी सारी चिट्ठियाँ लिखने का क्या फ़ायदा अगर आप मुझसे यह रोकने के लिए नहीं कह सकते? जहाँ तक उन सुझावों और प्रहारों की बात है, जिन्हें आप श्रीमाँ के विरोध में उठी भावनाएँ कह रहे हैं, क्या वे मेरे अन्दर रोज़ाना उठा करती थीं? बहरहाल, जब आप मुझे कुचलने और मेरे इतने प्रयास और कार्य करने के बावजूद, मुझे एक सड़ा-बुसा, पतित व्यक्ति मानने पर तुले हुए हैं तो फिर मेरे कहने के लिए कुछ नहीं बचता!*

रोज़ाना लिखी तुम्हारी चिट्ठियों से मुझे यह आभास हुआ कि तुम सचमुच इतना दुःख इसलिए भोग रहे हो क्योंकि तुम्हारी साधना प्रायः बन्द हो गयी है और तुम सारे समय सिर पर सवार इन सेक्स-संवेदनों को रोकने में असमर्थ हो, या कभी एक तो कभी दूसरे के साथ लेन-देन करने के संकटकाल से गुज़रने अथवा अपनी ही कल्पनाओं में रमे रहने और उनके परिणामों से त्रस्त हो चुके हो—साथ ही, साधना में प्रगति न कर सकने का मुख्य कारण है कि तुम बाहरी तौर पर बहुत, बहुत ही ज़्यादा बिखरे हुए थे। अगर मेरी यह धारणा सही नहीं है तो मुझे खेद है, लेकिन मुझे नहीं दीखता कि इसके अलावा मेरी और कौन-सी धारणा बन सकती थी। रोमेन या जसवन्त के साथ तुम्हारे सम्बन्ध को रोकने का मुझे कोई कारण नहीं दिखा। और तुम्हें किसी भी तरह कुचलने की मेरी कतई कोई भी इच्छा नहीं है, बस मैं यही चाहता हूँ कि तुम्हें अपनी कठिनाइयों से पल्ला झाड़ लेना चाहिये और साधना में प्रगति करनी चाहिये।
५ अगस्त १९३५

*क्या है मेरे कमरे में? जैसे ही मैं अन्दर घुसता हूँ, अपने-आपको आपके, श्रीमाँ और सारे संसार के विरोधी विचारों से एकदम लदा हुआ पाता हूँ। जैसे ही बाहर*

*निकलता हूँ, अपने-आपको एकदम भला-चंगा पाता हूँ। निस्सन्देह, मैं देखना चाहता था कि किस हद तक मैं आपसे लड़-झगड़ सकता हूँ, लेकिन मैंने यहाँ से चले जाने की घोषणा नहीं की, न ही और अधिक विद्वेष ही जतलाया। मुझे मालूम नहीं कि बाहर के लोगों की वजह से कहीं वातावरण बोझिल तो नहीं हो गया। अगर यह मनोभाव सर्वत्र है तो मुझे अपने-आपको हर जगह समान अवस्था में पाना चाहिये—केवल अपने कमरे में ही क्यों?*

ज़रूर तुम अपने कमरे में ऐसी रचना ले आये होगे या तुमने वहाँ ऐसा स्पन्दन पैदा कर दिया होगा जिसने वातावरण पर क़ब्ज़ा कर लिया है। अब उसे भंग करना होगा।

*छितराव के अन्दर कौन-सी चीज़ें आती हैं? क्या साधना के बारे में बातें करना या फ़्रेंच पढ़ना इस श्रेणी में आता है? क्या इन चीज़ों का वही समान स्तर है जब हम बाहरी लोगों या घटनाओं के बारे में बातचीत करते हैं या अख़बार पढ़ते हैं, पत्राचार करते हैं, शहर की गलियों में भटकते फिरते हैं या किसी विशेष काम के बिना यहाँ मँडराते रहते हैं? या फिर इसका अर्थ बस एकाग्रता का अभाव है, तब तो जसवन्त का नरभेराम के साथ घूमना शायद छितराव नहीं कहा जा सके? क्योंकि वह कह सकता है कि वह सारे समय उच्चतर चीज़ों पर एकाग्रचित्त रहता है। या बहुत ज़्यादा पत्राचार करने वाला कह सकता है कि वह लोगों को यहाँ आकर्षित करने के लिए केवल आश्रम तथा योग के बारे में ही लिखता है, और यह कि वह अपने-आपको दूसरे क्षेत्रों में नहीं बिखराता। दूसरी तरफ़, एकदम अलग-थलग, एकान्तवासी, चुपचाप रहने वाले व्यक्ति का मन तथा प्राण भटकनों की भूल-भुलैया से घिरे रह सकते हैं—क्या इसे बिखराव या छितराव नहीं कहा जायेगा?*

हाँ, निश्चित रूप से, छितराव एक आन्तरिक तथ्य है, लेकिन कुछ बाहरी चीज़ें चेतना के बिखराव में मदद करती हैं और अगर जसवन्त के जैसा यह कहे कि जब वह नरभेराम-जैसे साथी के साथ घूमता-फिरता है तो वह बिखरा हुआ नहीं रहता तो मैं कहूँगा कि वह या तो सच नहीं कह रहा या फिर अपने-आपको छल रहा है। अगर कोई सारे समय आन्तरिक चेतना में रहता है, तब वह बाहरी कामों को करते हुए भी हो सकता है बिखरा हुआ न हो—या अगर कोई सारे समय—सभी कार्यों को करते हुए—भगवान् के बारे में सचेतन रहे तब भी वह छितराव के बिना अख़बार पढ़ सकता या पत्राचार भी कर सकता है। लेकिन यद्यपि बिखराव नहीं होता, फिर भी जब व्यक्ति अपना एक हिस्सा बाहरी कामों में नहीं लगा रहा होता, उसकी अपेक्षा अख़बार पढ़ते या चिट्ठी लिखते समय निश्चित रूप से चेतना की तीव्रता में कमी तो आ ही जाती है। केवल तभी जब चेतना पूरी तरह से *सिद्ध* हो जाती है, यह भेद

भी नहीं रहता। इसका यह मतलब नहीं है कि व्यक्ति को बाहरी काम करना एकदम बन्द कर देना चाहिये, क्योंकि तब उसे दोनों चेतनाओं को जोड़ने का कोई प्रशिक्षण नहीं मिलता। लेकिन उसे यह समझ लेना चाहिये कि कुछ चीज़ें अन्य चीज़ों की अपेक्षा चेतना को छितरा ही देती हैं या उसे नीचे स्तर पर ले आती अथवा बहिर्मुख कर देती हैं। विशेषकर, जब वह बिखरा हुआ हो तब उसे यह कह कर कि वह नहीं है, न अपने-आपको धोखा देना चाहिये, न ढोंग ही करना चाहिये। रही बात उन लोगों की जो दूसरों को योग की ओर आकर्षित करते हैं, मैं कहूँगा कि अगर वे अपने-आपको अपने आन्तरिक लक्ष्य की ओर अधिक ले जायें तो वह कहीं ज़्यादा सार्थक और सफल क्रिया होगी। और बहुत ज़्यादा चिट्ठियाँ लिखने की जगह अन्त में, यह क्रिया कहीं अधिक व्यक्तियों को "आकर्षित" करेगी और वह भी बेहतर तरीक़े से।

*

यह निस्सन्देह सच है कि हस्त-मैथुन की आदत से (रोज़ाना या बहुत लम्बे समय तक करना) स्नायुएँ विक्षुब्ध हो जाती हैं। हठयोग तथा राजयोग में योग के साथ-साथ सेक्स को भी बनाये रखना बहुत ही ज़्यादा ख़तरनाक होता है। लेकिन किसी भी योग के लिए (भौतिक रूप से) यह सुरक्षित नहीं है, अगर व्यक्ति बस नाम-मात्र के लिए ही योगाभ्यास कर रहा हो या फिर उसका मन और उसकी नसें इस्पात की बनी हुई हों तो और बात है। निश्चित रूप से आध्यात्मिक असुरक्षा तो बनी ही रहती है।

*

जब नसें इतनी उत्तेजित हो जाती हैं तो सबसे महत्त्वपूर्ण है कि उस वस्तु का न स्पर्श करो न उससे प्रभावित होओ या फिर कम-से-कम ऐसे अवसरों को तो एकदम कम कर दो जो उत्तेजना लाकर तुम्हारी नसों को परेशान करें। इन अवसरों के उत्ताप को शान्त करने के लिए यह अनिवार्य है। दूसरी चीज़ है कल्पना—इसके लिए मेरे पास इसके अलावा और कोई इलाज नहीं है कि उनका सतत बहिष्कार करो और अपने मन को दूसरी चीज़ों की ओर मोड़ दो। सामान्यतः अगर इस पर डटा रहा जाये तो कल्पना करने की आदत अन्त में बेहतर बन जाती है, हालाँकि पहली बार में व्यक्ति पूरी तरह से सफल न भी हो पाये तो कोई बात नहीं।
६ अगस्त १९३५

*प्रणाम के बाद, यहाँ तक कि उसके कुछ पहले से ही मैंने कितनी शान्ति और आराम का अनुभव किया! मुझे आश्चर्य होता है कि व्यक्ति इसके बिना कैसे रह सकता है। जब मैं हरिन् को सारा-सारा दिन साइकिल पर सवार, इधर-से-उधर घूमता देखता हूँ और प्रणाम के लिए, शाम के ध्यान के लिए वह नहीं आता तो मुझे अचम्भा होता है कि वह इनके बिना रह कैसे सकता है? और शान्ति तथा आनन्द की वह अनुभूति मानों माँ हमारे निकट हैं और हम जहाँ कहीं हों, हमेशा उनकी गोदी में रहते हैं—आज मैं इसका अनुभव कर रहा हूँ और मुझे मालूम नहीं*

*कि इस बारे में मैं क्या कहूँ कि ऐसा अनुभव मैं हमेशा क्यों नहीं करता। माँ का सच्चा बालक बनने के लिए क्या मुझे बहुत प्रतीक्षा करनी होगी, बहुत समय लगेगा?*

हो सकता है बहुत समय न लगे। जहाँ तक हरिन् की बात है, उसका प्रणाम में न आने का कारण यह है कि माताजी का विचार है कि यहाँ आना उसके लिए अच्छा नहीं है—कम-से-कम अभी के लिए तो ठीक नहीं है।

*नवागन्तुकों को अपना परिचय न देने से बच निकलना कितना मुश्किल है! पुराणी ने मेरा परिचय मोरारजी से करवाया जो सूरत के हैं और मेरी ही जाति के हैं— मैंने सुना था कि वे डिप्टी कलेक्टर थे और उन्होंने सत्याग्रह में भी हिस्सा लिया था। हम दोनों की बस दृष्टि ही मिली। फिर दूर से मैं उन फुर्तीले और अधीर डॉ.चन्दूलाल से मिला जिनके साथ मैं साबरमती जेल में था—मुझे उन्हें देख कर मुस्कुराना और हाथ हिलाना पड़ा क्योंकि उन्होंने मुझे देखा तो यह किया। निस्सन्देह, तुरन्त मैं छितराव के अनुभव से गुज़रा।*

यह स्वाभाविक है—फुर्तीले लोग अपने फुर्तीलेपन से बेकार में हवा में प्रकम्पन पैदा कर देते हैं। लेकिन क्या "अधीरता" उसे यहाँ ले आयी या कोई और चीज़?

*शाम के ध्यान के बाद अचानक मुझे अपने शरीर में एक अजीब-सी शक्ति का अनुभव हुआ, और मैंने मन-ही-मन चन्दूलाल से ज़ोर से कहा कि अब मुझे ज़्यादा-से-ज़्यादा काम चाहिये क्योंकि मेरा पढ़ना-लिखना अब सब ख़तम हो गया है। उसके बाद मेरी गाने और नाचने की इच्छा हुई। अगर ज़रा-सा अवतरण गाना, कूदना इत्यादि ले आये तो जब पूरा अवतरण होगा तो क्या होगा भला? फिर से वही बात हुई कि ठोस आधार के अभाव में यह सब होता है।*

हाँ, जब चीज़ें अवतरित होती हैं तो उन्हें ठोस आधार पर ही उतरना चाहिये। इसीलिए यह आवश्यक है कि पहले अवतरण के रूप में शान्ति उतरे और वह यथासम्भव मज़बूत और ठोस हो। लेकिन बहरहाल, उसे धारण करना पहली आवश्यकता है—तब वह अधिक-से-अधिक उतर कर अपने-आपको प्रतिष्ठित कर सकती है। एक बार ये दो चीज़ें प्रतिष्ठित हो जायें—शान्ति तथा शक्ति, तब व्यक्ति किसी भी मात्रा में दूसरी चीज़ों का अवतरण सह सकता है—वह 'आनन्द' हो, 'ज्ञान' हो या जो कुछ भी हो।

७ अगस्त १९३५

*जो कुछ चल रहा है और जो कुछ श्रीमाँ कर रही हैं उसके लिए मेरे मन में पूर्ण सन्तोष है। मेरी समझ में नहीं आता कि क्या यह वही "मैं" है जो उस दिन विद्रोह पर उतर आया था, जो हर एक चीज़ से असन्तुष्ट था, हर एक से ईर्ष्या करता था। सामान्य जीवन में व्यक्ति इसे सनक के रूप में ले सकता है जो समय-समय पर उठती है, लेकिन यहाँ आप कह रहे हैं कि यह एक अलग ही हिस्सा है जो ऊपर उठ आता और अपने स्वभाव को प्रकट करता है। आत्म-सन्तोष का यह भाव मुझे सर्व-प्रेम का भी अनुभव देता है, मानों मैं श्रीमाँ के वातावरण से घिरा हुआ हूँ और मैं इसके सिवाय और कुछ नहीं कह सकता–"वाह! कितनी ख़ुशी!" (साधक ने फ़्रेंच में लिखा था—"Quel bonheur!")*

तुम्हारे अन्दर की चैत्य सत्ता सम्मुख आ गयी है—और जब चैत्य सत्ता सामने आती है तब सर्वत्र प्रसन्नता, उचित मनोवृत्ति, चीज़ों के प्रति उचित दृष्टि छा जाती है। निस्सन्देह, एक अर्थ में यह वही 'मैं' है जो अपने विभिन्न भागों को सामने रखता है। लेकिन जब ये सभी विभिन्न भाग चैत्य के अधीन होते हैं और उसके द्वारा उच्चतर चेतना को ग्रहण करने के लिए उसकी ओर मुड़ते हैं तब इन सभी भागों का सामञ्जस्य होना शुरू हो जाता है और ये उच्चतर चेतना के साँचों में क्रमशः पुनः ढल कर शान्ति, प्रकाश, शक्ति, प्रेम, ज्ञान तथा आनन्द में विकसित हो जाते हैं और इसे ही हम रूपान्तर कहते हैं।

*दोपहर के बाद चेतना में गिरावट आ गयी। ख़ासकर मन उन दोनों नेताओं के बारे में सोचता ही गया जो यहाँ आये थे। यहाँ हर एक उनमें रुचि ले रहा है—या तो उनके व्यक्तित्व ने सबको प्रभावित कर दिया है या फिर हमारी बाहरी प्रकृति कुछ नया और रुचिकर चाहती है। जब कालेलकर आये थे तब भी प्रायः ऐसा ही हुआ था। मैं सोच रहा हूँ कि अगर गाँधी आ जायें तो क्या होगा—लोग माताजी को प्रायः भूल जायेंगे और बस गाँधी के बारे में ही सोचेंगे, हाँ, इस अर्थ में कि गाँधी भी माँ को स्वीकार कर लें। शायद हम उनसे इसलिए प्रभावित होते हैं कि हमें यह जान कर ख़ुशी होती है कि ये लोग भी उस विशेष वस्तु को पहचानते हैं जो यहाँ विद्यमान है। लेकिन ऐसों के आने से एक लहर तो पैदा हो ही जाती है, एक बिखराव आ ही जाता है जो प्रायः रास्ते की बाधा बन जाता है।*

इन अवसरों पर यही परेशानी होती है, इतने सारे लोग आ जाते हैं, जो यहाँ से अलग वातावरण के प्रभाव का हम पर धावा बोल देते हैं और उससे चेतना छितर जाती है।

८ अगस्त १९३५

*दोपहर के बाद का दिन अवचेतना का दिन था: भूतकाल की घटनाएँ उठ आयीं, कुछ तो इतनी नगण्य और एकदम से भूली-बिसरी यादें थीं कि कोई भी आश्चर्य करे कि वे न जाने कौन से खाँचों और दरारों में छुपी पड़ी थीं! लेकिन एक फ़र्क था—मैं सक्रिय रूप से उस धारा में बह नहीं गया क्योंकि मैं काम के बारे में अधिक चौकन्ना था। वह चीज़ तो चली गयी, उसके बाद उठ आयीं पिछले साल की बातें जब मैंने कई मित्र बनाये थे और फिर मुझे कइयों के साथ मित्रता तोड़नी भी पड़ी जब तक कि यह हाल न हो गया कि अब मैं एकदम अकेला हूँ। शाम को हमेशा की तरह मैं अपनी फ़्रेंच की किताब नहीं पढ़ सका क्योंकि मुझे लगा कि अब मुझे बस एकाग्र बने रहना चाहिये ताकि मैं अटलांटा के सेवों को पाने की ललक में अपना रास्ता खो न बैठूँ, और अपने को अधिकाधिक माँ की गोद में समेटे रखूँ ताकि कोई भी चीज़ मुझे उससे निकाल बाहर न कर सके।*

बहुत बढ़िया।

हमेशा जब अवचेतना स्पष्ट हो जाती है कि भूली-बिसरी यादों की बारात आक्रमण कर बैठती है। उन पर बस एक नज़र डाल कर उन्हें चलता कर देना चाहिये।

*रात के तूफ़ान ने तो सारी रात मुझे न के बराबर सोने दिया, लेकिन सवेरे मुझे ऐसा नहीं लगा कि मैं रात-भर सोया नहीं। जब मैं प्रणाम के लिए आया तो मैं सामान्य दिनों की तरह बैठ नहीं पाया, एक अचञ्चलता और नीरवता मुझ पर छा गयीं, मैं एकाग्रचित्त अवस्था में खड़ा ही रहा। बाद में मैं बैठ पाया और मेरे अन्दर आलस भी नहीं था। प्रणाम के बाद फिर से अपने सिर में मुझे शक्ति का अनुभव हुआ मानों वह बल से भरपूर था। उसी समय मुझे पेट में एक अजीब-सी रिक्तता महसूस हुई—मुझे मालूम नहीं कि क्या यह सिर के भराव से एकदम विपरीत चीज़ थी?*

यह रिक्तता निम्न प्राण की रिक्तता हो, क्योंकि वह अपनी निम्न गतियों से ख़ाली हो गया था—एक तरह से यह चुपचाप हुआ, जिस तरह मन नीरव और शान्त हो गया था। सिर में शक्ति की परिपूर्णता निम्न प्राण में भी उतर सकती है।

९ अगस्त १९३५

*एक स्वप्न: एक पत्थर के नीचे मुझे लगा कि कुछ है। उठ कर मैंने पत्थर उठाया। एक फ़ुट लम्बा, साँप के जैसा कुछ निकला और सरकने लगा। मैंने उस पर एक पत्थर मारा जो उसे लगा, फिर भी वह इधर-से-उधर तेज़ी से जा रहा था। देखते-न-देखते उसके शरीर पर बड़ी-बड़ी मधुमक्खियाँ चढ़ गयीं—चींटियाँ नहीं—और धीरे-धीरे वह*

*मर गया। इस सपने में मैं यह सब चन्दूलाल को दिखला रहा था।*

अगर यह प्रतीकात्मक हो तो "पत्थर के नीचे" का अर्थ होगा, अवचेतना में छिपा हुआ और मधुमक्खियाँ उससे छुटकारा पाने पर प्राप्त होने वाले आनन्द की ओर इशारा कर रही होंगी।

*पिछले दो दिनों से मैं मुश्किल में था। या तो पतन की ओर जा रहा था या फिर एकदम उदासीन था—मैं कह नहीं सकता कि क्या था, हालाँकि पतन की स्थिति भी स्पष्ट न थी।*

शायद उदासीन ठहराव हो।

*दोपहर के बाद से मैं गवर्नर के साथ माँ की भेंट के विचारों से लबालब भरा था। यहाँ तक कि मज़दूर भी यह ताड़ गये और जब उन्होंने इसके बारे में मुझसे पूछा तो मैं भौचक्का रह गया। यह ख़ुशी की ही बात थी और मन इस भेंट से सम्बन्धित सभी सम्भावनाओं पर तब तक अटकलें लगाता रहा जब तक कि नरभेराम ने पूरा क़िस्सा न सुनाया।*

भला नरभेराम को क्या पता कि क्या हुआ था? लेकिन सचमुच बहुत कुछ नहीं हुआ। यह बहुत बढ़िया भेंट थी और गवर्नर तथा उनकी पत्नी बहुत प्रीतिकर और मिलनसार लगे, बस इतना ही। लेकिन ये पहले गवर्नर हैं जो आश्रम आये और यह उनका औपचारिक नहीं बल्कि मैत्रीपूर्ण आना था—तो यह आगे बढ़ा हुआ एक बड़ा क़दम है।
१० अगस्त १९३५

*आज की अवस्था को मैं पूरी तरह से समझ नहीं पा रहा हूँ। न छितराव है, न कोई सकारात्मक अनुभव। साथ ही, सन्तोष तथा शान्ति की सामान्य अवस्था है। प्रणाम के बाद मुझे छाती और पेट में ख़ालीपन-सा लगा, लेकिन मस्तिष्क में किसी भराव का अनुभव नहीं हुआ।*

हमेशा ऐसा ही होता है—बारी-बारी से, कुछ दिन अनुभव होता है, कुछ दिन कोई अनुभव नहीं होता (या फिर केवल शान्ति और निश्चलता का अनुभव होता है)। केवल बाद में ही चेतना निरन्तर अनुभव पाने के समर्थ हो जाती है, लेकिन फिर भी अनुभव के स्तर अलग-अलग होते हैं।

*दोपहर के बाद अवचेतना की कुछ गतिविधि हुई, लेकिन चूँकि मैंने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया तो उनींदापन छा गया। मैं सोना नहीं चाहता था इसलिए टहलने लगा, लेकिन इसके बावजूद, नींद मुझे अधिकाधिक दबोच रही थी, मैं बिस्तर पर जाकर लेट गया। फिर नींद ग़ायब, लेकिन वह सुस्ती शाम के पाँच बजे तक रही। 'Entretiens'—श्रीमाँ के वार्तालाप—पढ़ने और मन-ही-मन उनका गुजराती में अनुवाद करने पर मन उस सुस्ती और भारीपन से छूट पाया। बाद में मैं आश्रम में जाकर बैठा और वहाँ थोड़ी-सी शान्ति पाने पर मुझे अपने शरीर से अलग होने का भान हुआ, और भारीपन एकदम चला गया। अलगाव के साथ नीरवता का भाव कुछ समय तक बना रहा और उसने मुझे आराम और स्वतन्त्रता प्रदान कीं।*

बहुत अच्छा। जब अवचेतन रजस् को अस्वीकार कर दिया गया तो विकल्पतः उसने तमस् को ऊपर भेज दिया, मेरे ख़याल से—यही उसका अन्तिम अस्त्र है।
११ अगस्त १९३५

*सवेरे चार बजे से मैंने हलकापन महसूस करना शुरू कर दिया और उसके साथ आ गयी स्वतन्त्रता की भावना भी। मेरा मन और मेरी सारी सत्ता किसी चीज़ पर आसानी से एकाग्रचित्त हो रही थी—मुझे मालूम नहीं वह क्या थी—शायद वह शान्ति पर दत्तचित्त हो रही थी या वह निहिल के जैसी कोई वस्तु थी। सामान्यतः मैं ध्यान के रूप में एकाग्र होने में समर्थ नहीं होता—अगर मैं ध्यान न कर सकूँ तो मैं बस अपने-आपको शाश्वत काल के लिए माँ की गोद में लेटे रहने की कल्पना कर सकता हूँ।*

यह एकाग्रता का यथासम्भव उत्तम तरीक़ा है।

*अधिकतर लोग अपने जन्मदिन पर प्रसाद देते हैं—मैं क्यों नहीं देता? मैंने तीन लोगों को प्रसाद दिया—द्युमान्, शान्ति और योगानन्द को, क्योंकि आज मैंने आश्रम में चार साल पूरे किये। आप पूछेंगे, "क्या प्रसाद?" मैंने उन्हें वह पेपरमिण्ट दी जो माँ ने मुझे पहली तारीख़ को दी थी!*

श्रीअरविन्द से भले कोई उत्तर न मिले, इस पत्र को अपने पास पास रखना।

*१५ तारीख़ को अगर मेरे निरीक्षण के लिए कोई मज़दूर न हों तो मैं 'गेट-ड्यूटी' करने की सोच रहा हूँ। उस दिन बहुत से लोगों के आने की सम्भावना को देखते*

*हुए मुझे लगता है कि आश्रम के मुख्य भवन के दरवाज़े पर कम-से-कम दो का होना ज़रूरी है ताकि लोगों की आवश्यकताएँ पूरी की जा सकें—जैसे, कभी नलिनी को बुलाना, डाक से जो तार इत्यादि आयें उन्हें पढ़ना, बाक़ी जानकारियाँ देना इत्यादि में दो या उससे भी ज़्यादा व्यक्तियों की एक ही समय में आवश्यकता होगी। बहरहाल, मैं निश्चित रूप से कह नहीं सकता कि मेरे कार्यकर्ता आयेंगे या नहीं। लेकिन फिर भी क्या मैं 'गेट ड्यूटी' कर सकता हूँ?*

हाँ, निश्चित रूप से। तुम इसके बारे में नलिनी से बात कर सकते हो।
१२ अगस्त १९३५

*कल मैंने श्रीमाँ की १२ अगस्त १९१४ की प्रार्थना पढ़ी जिसका पहला वाक्य था, "Il faut à chaque instant savoir tout perdre pour tout gagner"—हर पल, सब कुछ पाने के लिए हमें सब कुछ खोना सीखना होगा। मैंने फ़्रेंच का यह वाक्य गुजराती में अनुवाद करना चाहा और तुरन्त मेरे मन में ईशोपनिषद् का वह पदांश गूँज उठा—**तेन व्यक्तेन भुञ्जीथाः**—उसे त्याग कर व्यक्ति को उसका उपभोग करना चाहिये; जिसका अर्थ "पाना" और "खोना" ही होता है। शायद गहराई में दोनों अनुभूतियों और विचारों का एक ही स्रोत है।*

हाँ, निश्चय ही। तत्त्वतः यह वही समान सत्य है जिसे भिन्न तरीक़ों से दर्शाया गया है। इसे निषेधात्मक तरीक़े से भी रखा जा सकता है—"अगर हम अज्ञानवश चीज़ों से, वे जैसी हैं उनकी अपूर्णता में उनके उसी रूप से चिपके रहें तो हम उन्हें 'भागवत प्रकाश', 'सामञ्जस्य' तथा 'आनन्द'-तले उनके सत्य तथा पूर्णता में नहीं प्राप्त कर सकते।"

*अब जब मैं कल के दर्शन के बारे में सोचने की कोशिश करता हूँ तो मुझे लगता है कि मैं सब कुछ भूल चुका। या शायद मैंने किसी चीज़ का अवलोकन किया ही नहीं, क्योंकि मैं सारा दिन 'गेट ड्यूटी' कर रहा था, और इतनी बड़ी संख्या में आने-जाने वाले लोगों की वजह से मेरा मन भ्रमित हो गया होगा। कल रात को जब मैंने ध्यान करने की कोशिश की तो मुझे वह असम्भव लगा, ऐसा लगा कि सारे-के-सारे लोग मेरी चेतना में इधर-से-उधर घूम रहे थे और मैं इसमें से बाहर ही नहीं निकल पाया। बहरहाल, इस तरह एक ही काम में लगे रहने से अच्छा ही हुआ, मैं बस अपने काम में लगा रहा, बहुतेरे लोगों से मिलने-जुलने से मैं बच गया। अब जब मैं यह याद करने की कोशिश कर रहा हूँ कि क्या माँ ने दर्शन के समय सफ़ेद साड़ी पहनी था या आपने सिल्क की धोती पहनी थी, तो मुझे एकदम*

*से कुछ भी याद नहीं है। ख़ैर, नवम्बर-दर्शन दूर नहीं है।*

मैं तुम्हारी बात पूरी तरह से समझ रहा हूँ। इतने सारे लोगों का इस तरह इधर-से-उधर तेज़ी से आना-जाना—ऐसे वातावरण में स्पष्ट चेतना बनाये रखना एक समस्या बन जाती है।

१६ अगस्त १९३५ **श्रीअरविन्द**